देवी सीता

लेखक
ज़हूरबख़्श 'हिंदी-कोविद'

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
प्रकाशक और विक्रेता
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द २)] संवत् १९८६ [सादी १॥)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

समर्पण

भारतीय महिलाओं के

कोमल करों में,

जिनका आदर्श ही

देवी सीता के पावन चरित्र और

कठोर तप का

अनुकरण

करना है।

जहूरबख्श

निवेदन

पं० दुलारेलालजी भार्गव इस युग के अद्वितीय हिंदी-पुस्तक-प्रकाशक हैं। यह आपकी पुण्य-भावनाओं और अपूर्व उत्साह का ही परिणाम है, जो हिंदी में एक सुखद क्रांति उत्पन्न हो गई है। इधर दस-पाँच वर्ष से हिंदी में जिस नूतन युग का आविर्भाव हुआ है, उसका एक-मात्र श्रेय भार्गवजी को ही है, और निष्पक्ष इतिहास-लेखक निस्संकोच भाव से कहेगा कि दुलारे-काल में हिंदी-संसार ने विशेष बल प्राप्त कर लिया था। जो लोग क़लम छोड़ हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहे थे, भार्गवजी उन्हें मैदान में ले आए, और जो नवीन लेखक हतोत्साह हो रहे थे, उनके लिये भार्गवजी ने नूतन क्षेत्र उत्पन्न कर दिया। इन पंक्तियों के लेखक का तो कम-से-कम यही अनुभव है। आप आरंभ से ही उस पर सदय रहे हैं, और उसे हिंदी की सेवा-योग्य बनाने के लिये जिन दो-चार सज्जनों ने चेष्टा की है, उनमें दुलारेलालजी अन्यतम हैं। आपके संबंध में ये दो-चार शब्द कहने का कारण यह है कि वह आपकी कृपा से ही बहुत-कुछ हिंदी-सेवा करने में समर्थ हो सका है। 'देवी सती,' 'देवी पार्वती,' 'नल-दमयंती' और 'देवी सीता' भार्गवजी की पुण्य-प्रेरणा से ही लिखी गई हैं। प्रथम तीन पुस्तकें यथा-समय पाठिकाओं की सेवा में भेंट की जा चुकी हैं, और आज 'देवी सीता' भी उनके कर-कमलों में भेंटकर लेखक भार्गवजी की आज्ञा से मुक्त हो रहा है। अतः भार्गवजी के प्रति उसका कृतज्ञता प्रकट करना कुछ अनुचित नहीं है।

देवी सीता का चरित्र अत्यंत पवित्र और दिव्य है। वह आदर्श की चरम सीमा का भी उल्लंघन कर आदर्श-तट हो गया है। उसमें

महिलाओं के लिये शिक्षा का अक्षय भांडार है। ऐसे दिव्य चरित्र को सुंदरता-पूर्वक लिख सकना तो किसी समर्थ कवि का ही कार्य है। हमारे लिये तो यह असंभव ही है; फिर भी जैसा कुछ बन सका, हमने इसके लिखने की चेष्टा की है। न तो चरित्र को अत्यंत संक्षिप्त ही किया है, न विशेष विस्तृत। इसकी भाषा पूर्व-प्रकाशित पुस्तकों की भाषा से कुछ क्लिष्ट रक्खी गई है, और वह इस उद्देश्य से कि पाठिकाओं के भाषा-विषयक ज्ञान की कुछ उन्नति हो सके, जिससे वे उच्च कोटि की पुस्तकें भी पढ़ने-समझने-योग्य सामर्थ्य प्राप्त करें। आशा है, पाठिकाएँ यह पुस्तक पसंद करेंगी। यदि भार्गवजी की ऐसी ही दया रही, तो हम इसी प्रकार की और पुस्तकें लिखने की भी चेष्टा करेंगे।

अहूरबख्श

विषय-सूची

देवी सीता

सीताजी का बचपन

बिहार-प्रदेश के उत्तर में तिरहुत नाम का भूमि-खंड पुराने समय में यह भूमि-खंड 'मिथिला' के नाम से प्रसिद्ध था। आज भी वहाँ के रहनेवाले 'मैथिल' कहलाते हैं और उनकी भाषा 'मैथिली'। 'मिथिला' के नाम से आज भी हमारे हृदय में हर्ष की लहरें उठने लगती हैं, गर्व से हमारी छाती फूल उठती है; क्योंकि भारतवर्ष का माथा सदा-सर्वदा के लिये ऊँचा कर देनेवाली सती सीता ने इसी 'मिथिला'-प्रदेश में अपनी बाल-क्रीड़ाएँ की थीं।

बात त्रेता युग की है। उस समय मिथिला में बड़े-बड़े प्रतापी राजाओं ने राज्य किया था। वहाँ का राजवंश बड़ा ही मानी, कुलीन और प्रसिद्ध था। इस राजवंश के मूल-पुरुष महात्मा निमि थे। इसीलिये वह राजवंश 'निमि-वंश' कहलाता था। महात्मा निमि की कई पीढ़ी बाद उस वंश में सीरध्वज और कुशध्वज नाम के दो राजकुमारों ने जन्म लिया। सीरध्वज बड़े भाई थे, इसलिये वे ही राजा बनाए गए। सीरध्वज राजगद्दी पर बैठकर आनंद से राज्य करने लगे।

सीरध्वज कोरे राजा ही न थे। वे बड़े ही विद्वान्, ज्ञानी

और जितेंद्रिय थे। वे बड़े ही धर्मात्मा और सब शास्त्रों के जाननेवाले थे। बात तो यह थी कि वे राजा तथा गृहस्थ होने पर भी पूरे महात्मा और बैरागी थे। तृष्णा उनको छू भी न गई थी। धर्म और न्याय उनके हृदय में बसता था। महाराज सीरध्वज के दरबार में जहाँ एक ओर नालिश-फ़रियाद की सुनाई होती थी, वहाँ दूसरी ओर साधु-महात्माओं तथा ज्ञानियों का भी जमघट लगा रहता था। ज्ञान-ध्यान एवं धर्म की ख़ूब चर्चा होती थी। महाराज यद्यपि क्षत्रिय थे, तो भी बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी और महात्मा लोग उनसे धर्म-कर्म की बातें सीखने आते थे। महाराज का ज्ञान एवं उनकी विद्वत्ता देख बड़े-बड़े ज्ञानियों तथा पंडितों का माथा झुक जाता था। महाराज जो काम करते थे, केवल कर्तव्य समझकर ही करते थे। उनका मन संसार के माया-जाल से दूर ही—केवल ईश्वर के चिंतन ही में—अठखेलियाँ किया करता था। उनके ऐसे-ऐसे गुण देख महात्मा तथा पंडित उन्हें 'महर्षि' और 'विदेह' कहने लगे थे।

महाराज सीरध्वज जैसे ज्ञानी-ध्यानी थे, वैसे ही राजनीति में भी चतुर थे। प्रजा पर उनकी बड़ी ही ममता थी। उनके न्याय पर प्रजा को बड़ा ही विश्वास था। महाराज के राज्य में प्रजा ख़ूब फल-फूल रही थी। चारों ओर चैन की वंशी बज रही थी। राज्य-भर में कहीं भी रोग-शोक का चिह्न दिखाई न देता था। प्रजा उन्हें पिता के समान समझती थी। यदि ज्ञानी-ध्यानी

महाराज कोमहर्षि विदेह, के नाम से पुकारते थे, तो प्रजा उन्हें 'महर्षि जनक' कहती थी। प्रजा के पिता-समान होने के ही कारण महाराज आगे चलकर महर्षि जनक के नाम से प्रसिद्ध हुए। सारे भारत में महाराज जनक का नाम छा रहा था। लोग उनके गुण गाते-गाते नहीं अघाते थे। इस प्रकार महाराज जनक ने अपने उत्तम गुणों से निमि-वंश का बड़प्पन खूब ही बढ़ा दिया था।

देवी सीता इन्हीं प्रतापी महात्मा जनक की बेटी थीं। सीता-जी पर राजा-रानी का बड़ा ही दुलार था। वे बड़े ही यत्न और प्रेम से उनका पालन-पोषण करते थे। चंद्रमा की कलाओं की तरह सीताजी दिन-दूनी बढ़ने लगीं। शुक्ल-पक्ष में जिस प्रकार बादलों में दिन-दिन चंद्रमा की सुंदर चमक दिखाई देती जाती है, उसी तरह सीताजी के शरीर में भी रूप की ज्योति झलकने लगी। सीताजी का कोमल सुंदर शरीर, उनका शांत-स्वभाव, उनकी सरलता, उनके बोलचाल की मधु-रता देख सभी प्रसन्न हो उठते और आपस में कहते थे—"भाई, जानकी तो जैसे देव-कन्या है। महाराज जैसे तपस्वी हैं, उनके यहाँ वैसी ही कन्या भी जन्मी है। तुम्हीं कहो, ऐसा रूप-गुण किन-किन कन्याओं में पाया जाता है ? अहा ! इसकी बोली तो देखो, कैसी मीठी है ! मानों कानों में अमृत की बूँद टप-कती हो ! भला, कोयल की बोली में यह मिठास कहाँ ?" इस तरह सभी छोटी-सी सीताजी के गुण गाते थे।

जब सीताजी कुछ बड़ी हुईं, तब पढ़ने के लिये बिठाई गईं। उन्होंने बड़े ही प्रेम से पढ़ना शुरू किया। उनकी बुद्धि देखकर गुरुआनियाँ भी थोड़े ही दिन में ख़ुश हो गईं। बात यह थी कि उन्हें जो बात बताई जाती, वे उसे ख़ूब ध्यान से सुनतीं और मन लगाकर अपना पाठ याद कर लेती थीं। जो बात मन लगाकर सुनी जाय वह चटपट समझ में आ ही जायगी। थोड़े ही दिनों में सीताजी लिखने-पढ़ने में ख़ूब चतुर हो गईं। इतिहास, पुराण और नीति को कितनी ही अच्छी-अच्छी कथाएँ उन्हें याद हो गईं। सुंदर-सुंदर श्लोक और कविताएँ उनकी ज़बान में बसने लगीं। तब गुरुआनियों ने उन्हें सीने-पिरोने तथा और घरू-काम सिखलाना शुरू किया। सीताजी देखते-देखते इन कामों में भी पूरी चतुर हो गईं। थोड़ी ही उमर में वे नारी-धर्म की सब बातों की पंडिता बन गईं। उनकी वह अपूर्व विद्या, वह अपूर्व गुणगरिमा देखकर सभी कहने लगे—"सीता में लक्ष्मी भी हैं, सरस्वती भी हैं, रूप भी है और उसको जगमगानेवाले गुण भी हैं।" बालिका सीता के साथ जो बालक-बालिकाएँ खेलती थीं, या जो सखी-सहेलियाँ पढ़ती थीं, वे भी उनसे बहुत प्रसन्न रहती थीं। क्योंकि सीताजी न तो कभी उनसे कोई बड़ी बात कहती थीं और न लड़ती-झगड़ती ही थीं। वे सभी के साथ हिल-मिलकर खेलती-कूदती या पढ़ती-लिखती थीं यही नहीं, उनकी सखी-सहेलियाँ उनसे ख़ूब सहायता भी पाया करती थीं। वे किसी

को खिलाती-पिलाती थीं, किसी को रुपए-पैसे या कपड़े-लत्ते देती थीं और किसी को लिखने-पढ़ने का सामान ले देती थीं। ऐसी प्रेममयी बालिका से भला कौन नाराज़ रहता? सीताजी-जैसी गुणवती बेटी पाकर राजवंश के सभी लोग फूले अंग न समाते थे।

महर्षि जनक के पास हमेशा ही दूर-दूर से ततस्वी आया करते थे। सीताजी भी उनकी बातें बड़े प्रेम और ध्यान से सुना करती थीं। जब ऋषि लोग अपने सुंदर आश्रमों का, मनोहर पर्वतों का वर्णन करते, तब सीताजी की बड़ी इच्छा होती कि मैं भी यदि उन आश्रमों का दर्शन कर पाती—यदि उन मनोहारी पर्वतों की सैर कर पाती, तो कैसा आनंद होता। ज्यों-ज्यों सीताजी बड़ी होती जाती थीं, त्यों-त्यों उनकी यह इच्छा भी बढ़ती जाती थी। सुंदर बग़ीचे, लहराते हुए खेत, कलकल करती हुई नदी-हिलोरें लेता हुआ तालाब, कमलों पर भौंरों की गुंजार, ऊँचे-ऊँचे पर्वत, ऋषियों के शांतिमय आश्रम, हरी-हरी दूब का मख़मली बिछौना आदि दृश्य देखकर सीताजी का मन बड़ा ही प्रसन्न होता था—उन्हें देखते-देखते उनका जी भरता ही न था। पृथ्वी की सुंदरता से सीताजी को वैसा ही प्रेम था, जैसा कि बेटी को माता से होता है। सीताजी के बराबर पृथ्वी-प्रेम और किसी में कभी नहीं देखा गया। जब कभी वे पिता के साथ ऋषियों के आश्रम में जाती थीं, तब उनका जी यही होता था कि इन फले-फूले वृक्षों से भरे वन में पक्षियों की सुरीली बोलियाँ ही सुना करूँ—हिरनियों के साथ उनके बच्चों की क्रीड़ा

ही देखा करूँ और इन्हीं तपस्वी महात्माओं की धर्म-चर्चा सुनते-सुनते मैं भी अपने जीवन को धर्ममय बनाऊँ। अस्तु।

इसी तरह दिन-पर-दिन बीतते गए। सभी लोग सीताजी के गुणों की प्रशंसा करते थे, ऋषि-मुनि उनके शुभ लक्षण देख महाराज जनक के भाग्य की सराहना करते थे, धीरे-धीरे सीताजी ने यौवन की ओर पैर बढ़ाए। दिन-दिन उनका रूप निखरने लगा। गुण भी वैसे-ही-वैसे बढ़ने लगे। सबेरे की ठंढी-ठंढी हवा लगने से जैसे कलियाँ खिलने लगती हैं, वैसे ही सीताजी का हृदय भी खिलने और प्रसन्न होने लगा। अब महाराज जनक को सीताजी के विवाह की चिंता सताने लगी। वे दिन-रात इसी उधेड़-बुन में पड़े रहने लगे कि यह सिरस के फूल-जैसी कोमल, लक्ष्मी के समान सुंदर और सरस्वती के समान विदुषी एवं गुणवती कन्या किसे सौंपूँ ? एक-एक करके उन्होंने कितने ही राजे-महाराजे और राजकुमारों की बात सोची, पर उन्हें सभी में एक-न-एक दोष दिख ही जाता था। सीताजी की बड़ाई सुनकर कितने ही राजे-महराजे और राजकुमार उनके साथ विवाह की इच्छा से महाराज जनक के पास आते थे, पर महाराज का मन किसी से न भरता था। चिंता चौगुनी बढ़ती जाती थी। महाराज दिन-रात यही सोचते रहते थे कि क्या सीता को मेरा मन-चाहा वर न मिलेगा ?

उस समय के लोग आँख मींचकर जिस किसी को कन्या-दान नहीं कर देते थे। वे कन्या के योग्य वर की खोज में बड़ा

परिश्रम करते थे और जब ठीक वर मिल जाता था, तब उसके साथ कन्या का विवाह कर देते थे। कभी-कभी यह बात कन्या के मन पर भी छोड़ दी जाती थी। इसके लिये स्वयंवर-सभा की जाती थी। उपस्थित युवकों में कन्या जिसे श्रेष्ठ रूपवान् तथा गुणवान् समझती, उसके ही गले में जय-माल डाल देती थी। उन दिनों वीरता का बड़ा आदर था। कन्याएँ बहुधा वीर पुरुषों को ही पसंद करती थीं। इसलिये कभी-कभी स्वयंवर सभा में वीर-परीक्षा भी होती थी। जो वीर-परीक्षा में सर्वश्रेष्ठ निकलता था, वही कन्या-रत्न का स्वामी होता था। महाराज जनक ने भी अंत में इसी उपाय का आश्रय लिया। उन्होंने निश्चय किया कि भारत में जो पुरुष सबसे अधिक वीर निकलेगा, उसी के साथ सीता का विवाह करूँगा।

एक बार दक्ष प्रजापति ने बड़ी धूमधाम से यज्ञ किया। वे अपने जामाता शिवजी से नाराज़ थे। इसलिये उन्होंने शिवजी को न्यौता नहीं दिया। शिवजी का अपमान करने के विचार से ही उन्होंने यज्ञ किया था। पर शिवजी की धर्म-पत्नी—दक्ष की बेटी सती देवी—विना न्यौता पाए ही पिता के यज्ञ में गईं। वहाँ पिता के मुख से स्वामी की निंदा सुनकर सती देवी ने यज्ञ-कुंड में कूदकर प्राण त्याग दिए। देवता भी इस शिव-विहीन यज्ञ में शामिल हुए थे। जब शिवजी को यह खबर मिली, तब तो उन्हें बड़ा ही क्रोध आया। वे एक बड़ा धनुष लेकर यज्ञ-भूमि में पहुँचे और देवताओं को मारने के

लिये तैयार हुए। देवता मारे डर के शिवजी की स्तुति करने लगे। तब शिवजी ने प्रसन्न होकर वह भारी धनुष देवताओं को दे दिया। देवताओं ने वह धनुष जनक के पूर्वपुरुष देव-रात को दे दिया था। तब से वह मिथिला की राजधानी में ही रक्खा हुआ था। उसे उठा लेना सहज न था। महाराज जनक ने उस धनुष को बात यादकर प्रतिज्ञा की कि जो पुरुष-सिंह इस विशाल शिव-धनुष की प्रत्यंचा खींचकर इस पर बाण चढ़ा देगा, वही वीर सीता को पा सकेगा। यह ख़बर बिजली के समान देश-भर में फैल गई।

स्वयंबर

महाराज जनक की प्रतिज्ञा सुनकर दूर-दूर से बहुत-से राजा और राजकुमार सीताजी को पाने की इच्छा से जनकपुर में आने लगे। वे लोग धनुष की डोरी खींचने की कोशिश करने लगे। परंतु डोरी खींचकर धनुष पर बाण चढ़ा देना तो दूर रहा। कोई उसे उठा भी न सकता था! सीताजी का मूल्य तो केवल बल ही था, इसलिये सभी अपना-सा मुँह लिए लौट जाते थे। यह हाल देखकर कई राजा लोग तो यही ख़याल करने लगे कि हो-न-हो हमारा अनादर करने के लिये ही जनकराज ने यह प्रतिज्ञा की है। कई राजा तो महाराज जनक से अनबन रखने तथा खटपट भी करने लगे। पर वे अपनी प्रतिज्ञा से बाल-भर भी न डिगे। उन दिनों लंका के महाराज रावण का बड़ा नाम हो रहा था। उनके बल-विक्रम से देवता भी थर-थर काँपते थे। सीताजी की बड़ाई सुनकर वे भी जनकपुर पहुँचे और उन्होंने धनुष उठाना चाहा। परंतु उनका भाग्य ठठाकर हँस पड़ा। उनसे भी धनुष न उठ सका। पर वे उस समय अपने भाग्य की उस हँसी को समझ न सके। जब इस प्रकार बड़े-बड़े बली लोग भी वह धनुष न उठा सके, तब तो महाराज जनक बड़ी ही चिंता में पड़ गए। वे मन-ही-मन सोचने लगे—"जान पड़ता है, मैंने यह भीषण प्रतिज्ञा करने में बड़ी भूल की है! तो क्या सीता कुँवारी

हा रह जायगी ? ओह बड़ी भूल हो गई ? मैं ख़ाली हाथों नदी की धार को रोकना चाहता था ! पर अब इस पछतावे से क्या। जो प्रतिज्ञा हो चुकी, सो हो चुकी ! भाग्य से किसका ज़ोर है ?"

कुछ दिन बाद महाराज जनक ने एक यज्ञ और उसके साथ ही सीताजी का स्वयंवर करने का विचार किया। उत्सव में आने के लिये दूर-दूर देशों के ऋषि-मुनियों, तपस्वियों, विद्वान् ब्राह्मणों और राजों-महाराजों को न्यौता भेजा गया। ठीक समय पर सब लोग जनकपुर में आने लगे। प्रतापी महाराज ने उत्सव के लिये ख़ूब तैयारियाँ की। उस समय जनकपुर को शोभा बहुत ही बढ़ गई थी। चारों ओर आनंद लहरें ले रहा था। वेदपाठी ब्राह्मण मंदिरों में वेद-मंत्रों की सुरीली ध्वनि से धर्मात्मा जनों का मन मोह रहे थे। होता लोग 'स्वाहा' की ध्वनि के साथ अग्नि-कुंड में सुगंधित पदार्थों की आहुति देकर पुण्य की ज्वाला प्रज्वलित कर रहे थे। और दर्शक लोग उस पवित्र दृश्य से अपने हृदय की कालिमा का शमन कर पुण्यमय-धर्ममय हो रहे थे ! चारों ओर पवित्रता की वंशी बज रही थी। महाराज जनक पाहुनों के आदर-सत्कार में अपने आपको भूल रहे थे। इसी समय महाराज को ख़बर मिली कि यज्ञ में शामिल होने के लिये महर्षि विश्वामित्र भी आ रहे हैं। महाराज चटपट अपने मंत्रियों के साथ उनका स्वागत करने पहुँचे। उन्होंने बड़े ही भक्ति-भाव से महर्षि को प्रणाम किया और उन्हें सभा में लाकर ऊँचे आसन पर बिठाया। विश्वामित्रजी जनक महाराज के आदर-

सत्कार से बड़े सुखी हुए। कुशल-प्रश्न के बाद वे अपनी शिष्य-मंडली समेत वहीं बैठ गए। और भी कई महाशय वहाँ आ बैठे।

विश्वामित्रजी की उस शिष्य-मंडली के बीच में दो बड़े ही सुंदर, धनुर्धारी वीर राजकुमार बैठे थे। तारागणों के बीच में चंद्र जैसा शोभा देता है, वैसे ही उन वीर-कुमारों से उस ऋषि-मंडली की शोभा बढ़ रही थी। ऐसा जान पड़ता था, जैसे उन जटाधारी संन्यासियों के बीच में उनके तप के समान दो सुंदर देवता आ विराजे हों। उनके शरीर पर पीतांबर शोभा दे रहा था। माथे में चंदन का तिलक बड़ा ही भला मालूम होता था। हृदय पर मोतियों की माला झूल रही थी। उनकी वह बाँकी भौंहें, कमल को भी मात करनेवाले नेत्र, वह लंबी-लंबी भुजाएँ, वह बैल-जैसे ऊँचे कंधे और सबसे बढ़कर चंद्रमा की छटा को भी पटा देनेवाले वह मुख मंडल देखकर सभी मोहित हो गए। उन कुमारों के आते ही उस सभा में बैठे हुए सभी लोग ऐसे मालूम होने लगे जैसे चंद्रमा के सामने तारे। उन्हें देखकर सभी को अचरज हुआ। ऋषि-मंडली के बीच ऐसे कुमारों का बैठना आश्चर्य की बात ही थी। उन्हें देखते ही महाराज जनक के हृदय में ममता लहराने लगी, उनसे न रहा गया। वे विश्वामित्रजी से पूछ ही तो बैठे—"महाराज, आपकी शिष्य-मंडली की शोभा बढ़ानेवाले ये वीर-कुमार कौन हैं? किनके पुत्र हैं? अपने जन्म से इन्होंने किस कुल का मान

बढ़ाया है ? देवताओं जैसा पवित्र रूप लिए ये कहाँ भूल पड़े ? कृपा करके इनका कुछ हाल सुनाइए तो—मैं इनका हाल जानने की बड़ी इच्छा कर रहा हूँ ।"

तब महर्षि विश्वामित्र प्रसन्न होकर बोले—"राजन्, आपके प्रश्न से मैं बहुत सुखी हुआ। ये भी आपके ही शिष्य हैं। आपने अयोध्या के महाराज दशरथ का नाम तो सुना ही होगा। ये उन्हीं के पुत्र हैं। घन-श्याम तो रामचंद्र हैं और उन्ही के पास बैठे हुए गौरवर्णवाले लक्ष्मण हैं। रामचंद्र की माता का नाम कौशल्या और लक्ष्मण की माता का नाम सुमित्रा देवी है। इनके दो भाई और हैं—भरत और शत्रुघ्न। भरत कैकेयी देवी के और शत्रुघ्न सुमित्रा देवी के पुत्र हैं। ये चारों भाई बड़े ही रूपवान्, बुद्धिमान् तथा विद्वान् हैं। इन-जसा बलवान् तो शायद संसार में कोई बिरला ही होगा। धनुर्विद्या के ये पूरे पंडित हैं। इन चारों भाइयों में भी राम सबसे श्रेष्ठ हैं। इनके व्यवहार से सभी अयोध्यावासी इन्हें ख़ूब चाहते हैं—इन्होंने उनके हृदयों में घर बना लिया है। माता-पिता तो इन्हें क्षण-भर के लिये भी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहते। वह तो यह कहिए कि मैं इन्हें किसी तरह यहाँ तक ले आया हूँ। चारों भाइयों में आपस में बड़ा प्रेम है। इतने पर भी लक्ष्मण राम के साथ और शत्रुघ्न भरत के साथ बड़ी ही प्रीति रखते हैं।

"अच्छा, अब इनका मेरे साथ आने का कारण भी सुनिए। थोड़े दिन हुए, मैंने एक यज्ञ करना शुरू किया था।

परंतु राक्षसों ने यज्ञ में विघ्न डालना शुरू कर दिया। आश्रम-वासी उनके ऊधम के मारे परेशान हो गए। तब मैं महाराज दशरथ के पास गया और उन्हें सब हाल सुनाकर उनसे कहा कि आप मेरे साथ अपने जेठे बेटे रामचंद्रजी को भेज दीजिए। मुझे विश्वास है कि ये हमारी रक्षा कर सकेंगे और यज्ञ आनंद से पूरा हो जायगा। मेरी बातें सुनते ही दशरथजी घबरा गए और कहने लगे—महाराज, राम अभी छोटा-सा लड़का है। वह उन बलवान् राक्षसों से क्या लड़ेगा। यदि आपको सहायता की ज़रूरत ही है, तो मैं ख़ुद सेना-समेत आपके साथ चलता हूँ। पर मैं न माना, तब उनके कुल-गुरु वशिष्ठजी ने भी उन्हें समझाया—राजन्, राम लड़के हैं तो क्या हुआ, वे ख़ूब बलवान् हैं। राक्षस उनके पैने बाणों की चोट न सह सकेंगे! आप राम को ऋषि के साथ जाने दीजिए। डर की कोई बात नहीं है। अब दशरथजी क्या करते, गुरु की आज्ञा टालना वे पाप समझते हैं। उन्होंने छाती पर पत्थर धर, आँखों में आँसू भर राम को मेरे साथ कर दिया। राम चले, तो लक्ष्मण भी साथ हो गए। रास्ते में दोनों भाइयों को मैंने युद्ध-विद्या की और भी कई बातें सिखला दीं। हम लोग अनेकों वन, पर्वत और नदियाँ लाँघते हुए आश्रम में जा पहुँचे। राम-लक्ष्मण को देख सभी आश्रमवासी बड़े प्रसन्न हुए और यज्ञ करने लगे। यज्ञ का धुआँ देखते ही राक्षस लोग वहाँ आ पहुँचे और ऊधम मचाने लगे। उनमें ताड़का नाम

रास्ते में दोनों भाइयों को मैंने युद्ध-विद्या की और भी
कई बातें सिखला दीं। (पृष्ठ १३)

की राक्षसी बड़ी ही बलवान थी। उसका भाई मारीच भी कुछ कम न था। ये ही राक्षसों के अगुआ थे। उन सबको ऊधम करते देख दोनों भाइयों ने अपने-अपने हथियार सँभाले

और राक्षसों से लड़ाई छेड़ दी। ताड़का को इन लोगों ने बड़ी ही बहादुरी से मार डाला। मारीच तो राम का एक ही बाण खाकर ऐसा भागा कि फिर उसने वहाँ खड़े होने का नाम भी न लिया। और भी कई राक्षस मारे गए। जो बच रहे, सो प्राण लेकर भाग गए। इनकी यह बहादुरी देखकर सभी ऋषि-मुनि धन्य-धन्य कहने और इन पर अपने प्रेम तथा आशीर्वाद की धारा बरसाने लगे। फिर तो सभी ने बड़े ही आनंद से यज्ञ-कार्य पूरा किया।

"इसी बीच में आपका न्योता भी पहुँच गया। तब इन दोन कुमारों ने आपके यहाँ का यज्ञ और स्वयंवर देखने की बड़ी इच्छा की। सब आश्रमवासियों की भी यही राय ठहरी, तब हम लोग यहाँ चले आए।"

रामचंद्रजी का परिचय पाकर महाराज जनक बड़े ही प्रसन्न हुए। पर थोड़ी ही देर में उनकी वह प्रसन्नता उदासी में बदल गई। वे मन-ही-मन सोचने लगे—"हाय! मुझे पहले ही राम की याद क्यों न आई! मैं क्या जानता था कि ये इतने वीर होंगे। यदि मैं पहले ही दशरथजी से प्रार्थना करता, तो वे अवश्य ही सीता के साथ राम का विवाह मंजूर कर लेते। मैंने व्यर्थ ही यह प्रतिज्ञा की। लोग ठीक ही कहा करते हैं कि बुढ़ापे में आदमी की मति मारी जाती है। हे परमेश्वर! अब ऐसा करो कि मेरी भी बात रह जाय और राम के साथ सीता का विवाह भी हो जाय।"

जब दोनों भाई महर्षि विश्वामित्रजी की आज्ञा पाकर नगर में घूमने को निकले, तो उनका वह मनोहर रूप देखकर सभी नगर-निवासी मोहित हो गए। उनका रूप ऐसा लुभावना था कि लोग उनसे छेड़-छेड़कर बातें करते थे। उनकी प्यारी-प्यारी बातें सुनकर क्या बूढ़े क्या बालक और क्या स्त्री क्या पुरुष सभी प्रसन्न हो जाते थे। सभी एक मुँह से उनकी बड़ाई करते और आपस में कहते थे—"देखो तो भाई! महाराज दशरथ भी कैसे भाग्यवान् हैं। उन्होंने कैसे सुंदर लाल पाए हैं। अहा! इनकी चाल-ढाल, इनका सुंदर रूप, इनकी प्यारी-प्यारी बातें आदि गुण वरबस चित्त को खींच लेते हैं! राम का रंग क्या है, एक चीज़ है—नीले बादलों में भी यह शोभा कहाँ! हमारी सीता के लिये इनसे सुंदर वर कहाँ मिलेगा! हमारे महाराज को भी क्या सूझी कि विना सोचे-विचारे ऐसी कठिन प्रतिज्ञा कर बैठे! भला शिवजी का धनुष कोई कैसे उठा सकता है! महाराज यदि हमसे पूछें, तो हम साफ़ कह दें कि आप अपनी यह प्रतिज्ञा अब रक्खी ही रहने दीजिए। विना विलंब किए राम को कन्यादान कर दीजिए। ऐसी चीज़ बार-बार नहीं मिलती।

स्त्रियाँ झरोखों में बैठी-बैठी उन कुमारों का वह नयन-मनोहर रूप देखतीं और प्रसन्न हो जातीं! वे भी आपस में कहतीं—"बहिन! वह माता कैसी भाग्यवान् होगी, जिसकी गोद में इन सुंदर खिलौनों ने खेल किए हैं! अहा! कैसी प्यारी जोड़ी है।

उस साँवले-सलोने कुमार को तो देखो, जैसे सुंदरता उसके मुखड़े में बस रही है। कैसा शांत लड़का है, कैसी मीठी-मीठी बातें करता है। बहन! सच कहती हूँ, हमारी सीता जैसी रूपवती है, यह श्याम-सलोना भी वैसा ही रूपवान् है! यदि मैं राम-जैसा पुत्र और सीता-जैसी वधू पाती, तो उन पर सारे संसार का राज्य भी निछावर कर देती। उन्हें अपनी आँखों की पुतली बनाकर रखती। दिन-रात उनकी छवि ही देखा करती और उनकी वीणा-जैसी मधुर-मधुर बातें सुनकर अपने मन-प्राणों को सुखी करती।"

तब दूसरी उसे जवाब देती—"बहन! सच कहती हो। मेरा तो यही जी चाहता है कि सोते में भी इस सलोने कुमार की सुंदरता ही देखा करूँ। सुनती हूँ, यह बड़ा ही वीर है। इसने इसी छोटी उमर में बड़े-बड़े राक्षसों का भी नाश कर डाला है। राजा ने शिव-धनुष उठाने की प्रतिज्ञा की सही है, पर मेरा मन न-जाने क्यों बार-बार यही कहता है कि सीता का पति यही दशरथ-नंदन होगा।"

इस प्रकार जिसे देखो, वही उस जुगल-जोड़ी के गुण गाता था। सबके मुख से यही बात निकलती थी—"राम ही सीता के स्वामी होंगे।"

महाराज जनक का यज्ञ समाप्त हो गया। अब स्वयवर का समय आ गया। सभा में देश-देश से आए हुए राजा, महाराजा और राजकुमार ठाट-बाट से आ विराजे। एक ओर जटा-जूट

वे भराए हुए गले से बोले—"हे भगवान्, यह तूने क्या किया? तूने मुझे कहीं का भी न रक्खा! मैं क्या जानता था कि पृथ्वी वीरों से खाली हो गई है—नहीं तो ऐसा प्रण ही क्यों करता। भाइयो! अब आप लोग अपने-अपने घरों को जाइए। सीता कुमारी ही रह जायगी—परमेश्वर को उसका विवाह होना स्वीकृत ही नहीं। मैं क्षत्रिय हूँ, प्रण कर चुका हूँ—उसे तोड़ने से रहा। भले ही बेटी कुमारी रह जाय—भले ही संसार मेरी हँसाई करता रहे!

रहा चढ़ाउब तोरब भाई; तिल-भर भूमि न सकेउ छुड़ाई।
अब जनि कोउ माखै भट-मानी; वीर-विहीन मही मैं जानी।
तजहु आस निज-निज गृह जाहू; लिखा न विधि वैदेहि विवाहू।
सुकृत जाय जो प्रण परिहरऊँ; कुँवरि कुमारि रहै का करऊँ।
जो जनतेउँ बिनु भट महि भाई; तौ प्रण करि करतेउँ न हँसाई।"

यह कहते-कहते महाराज का गला भर आया। आँखें डब-डबा आईं। वे सिर पकड़कर बैठ गए। सब नगर-निवासी भी बड़े दुखी हुए। महिलाएँ भी व्याकुल हो गईं। कोई-कोई तो यह भी कहने लगीं—"महाराज को भी अच्छे प्रण की सूझी! वाह रे प्रण! बेटी कुमारी बैठी रहेगी, पर प्रण न टूटेगा!"

परंतु महाराज जनक की अपमान भरी बातें वीरवर लक्ष्मण से न सही गईं। उनका स्वभाव पहले ही से कुछ क्रोधी था। इस समय वह भड़क उठा। वे लाल-लाल आँखेंकर गरजते हुए रामचंद्रजी से बोले—"भैया! महाराज जनक की बातें सुनते

हो । इस सभा में रघुवंशी मौजूद हैं, फिर भी जनकराज कह रहे हैं कि पृथ्वी वीरों से ख़ाली हो गई। रघुवंशी सब कुछ सुन सकते हैं, पर ऐसा अपमान की बात नहीं सुन सकते। आप अभी तक चुपचाप बैठे हुए हैं--यह मुझसे नहीं सहा जाता। आपकी आज्ञा मिलने-भर की देर है। यह सड़ा-सा धनुष तो चीज़ ही क्या है—मैं हिमालय पर्वत को भी गेंद की तरह उछाल सकता हूँ—पृथ्वी के भी टुकड़े-टुकड़े कर सकता हूँ। यदि ऐसा न कर सकूँ, तो मेरा नाम क्षत्रिय नहीं। जनकराज ने अभी समझा ही क्या है।

जो राउर अनुशासन पाऊँ; कंदुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ।"

लक्ष्मणजी का यह क्रोध देख राम ने उनकी ओर मुसकिराकर देखा और उन्हें चुपचाप बैठ जाने का इशारा किया। लक्ष्मणजी बड़े भैया की आज्ञा मानना अपना धर्म समझते थे—चुपचाप मन मसोसकर बैठ रहे। तब विश्वामित्रजी ने ठीक समय जान रामचंद्रजी से कहा—"बेटा, उठो, चुप बैठने का समय नहीं है। धनुष उठाकर महाराज जनक का दुःख दूर करो। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम विजयी होओ।" मुनिजी की आज्ञा पाकर रामचंद्रजी चुपचाप उठे और उन्हें प्रणामकर मस्तानी चाल से धनुष की ओर चले। यह देखते ही लोगों में खलबली-सी मच गई। बूढ़े-पुराने लोग आपस में कहने लगे—"भाई! महाराज की यह प्रतिज्ञा तो बड़ा अनर्थ कर रही है। जिस धनुष को बड़े-बड़े पुरुष-पुंगव भी टस से मस

न कर सके—उसे यह अबोध और कोमल बच्चा कैसे उठा सकेगा ! ईश्वर, इसकी सहायता करो, धनुष को हलका कर दो।" सब लोगों में क्षण-भर के लिये सन्नाटा-सा छा गया। साँस रोककर सभी ने धनुष की ओर नज़रें गड़ा दीं।

रामचंद्रजी धनुष के पास पहुँचे। उन्होंने मन-ही-मन ईश्वर, गुरु और माता-पिता को प्रणाम किया। तब उन्होंने फूल के समान वह धनुष उठा लिया। हर्ष से लोगों के हृदय उछल पड़े। सभी अचरज से एक दूसरे की ओर देखने लगे। इतने में ही रामजी ने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाई, तो वह चरमराकर दो टुकड़े हो गया। धनुष भारी तो था ही, उसके टूटने से ऐसे ज़ोर की आवाज़ हुई कि वहाँ बैठे हुए कई लोग तो बेहोश तक हो गए। 'राम की जय, जनकराज की जय, सीताजी की जय' की ध्वनि से सभा-मंडप गूँज उठा। लोग अचरज से कहने लगे—"ओहो ! इन कोमल हाथों में ऐसा बल ! ग़ज़ब हो गया भाई।" चारों ओर से आनंद उमड़ आया। धनुष क्या टूटा, महाराज जनक का चिंता-जाल छिन्न-भिन्न हो गया। आनंद से उनका मुखड़ा खिल उठा। महारानी, सीताजी की सखी-सहेलियाँ, विश्वामित्रजी तथा लक्ष्मणजी के आनंद का तो कहना ही क्या—उन्होंने तो मानों हाथों-हाथ चंद्रमा को पा लिया। पर, सीताजी को पाने की आशा से आए हुए महाशयों का हाल कुछ और ही था—बेचारों के चेहरे की रंगत ही उड़ गई। वे सब मारे लाज के एक-एक करके वहाँ से खिसक गए।

राम पर नज़र पड़ते ही सीताजी की आँखें झेंप गईं। माला पहनाने के लिये उनके हाथ ही न उठते थे।

(पृ० २३)

अब महाराज के पुरोहित शतानंदजी ने सीताजी को राम के गले में जय-माल पहनाने की आज्ञा दी। सीताजी मानों लाज से दब गईं। मारे संकोच के उनके पैर ही न उठते थे। पर सखियाँ कब माननेवाली थीं। वे किसी तरह उन्हें राम के पास खींच ही ले गईं। राम पर नज़र पड़ते ही सीताजी की आँखें झेंप गईं। माला पहनाने के लिये उनके हाथ ही न उठते थे। जब सखियों ने उनसे बार-बार कहा, तब कहीं उनके हाथ ऊपर को उठ सके। लजीली सीताजी ने लाज की लगाम रोक किसी तरह राम के गले में माला डाल दी—उसी समय उन्होंने राम के चरणों में अपना हृदय भी निछावर कर दिया। एक बार फिर सभा-मंडप जय-ध्वनि से गूँज उठा। सब लोग सीताजी के भाग्य की सराहना करने लगे। बाहर बाजे बजने लगे, स्त्रियाँ मंगल-गान गाने लगीं। गुरु लोगों का आशीर्वाद पाकर सीताजी माता के पास चली गईं।

"अति गहगहे बाजने बाजे ; सबहि मनोहर मंगल साजे।"

सेना भी दोनों तरफ़ क़ायदे से चल रही थी। एक बात बड़े अचरज की थी। उस बड़ी बारात में सभी का ठाट एक दूसरे से बढ़-चढ़कर था। देखने से यही जान पड़ता था कि सभी अयोध्यावासियों पर लक्ष्मीजी प्रसन्न हैं। इस प्रकार वह बारात बड़ी धूमधाम से जनकपुरी की ओर रवाना हुई।

महाराज जनक ने पहले ही से अयोध्या के रास्ते को ख़ूब साफ़ करवा दिया था। नदियों पर पुल बँधवा दिए थे। इसलिये बारातवालों को राह में कोई कष्ट नहीं हुआ। आनंद मनाते हुए सभी लोग चार ही दिन में मिथिला पहुँच गए। बारात के आने की ख़बर पाते ही महाराज जनक असंख्य हाथी, घोड़े, सवार, पैदल आदि साथ लेकर उनकी अगवानी को चले। बड़ी धूमधाम से बारात का स्वागत किया गया। रास्ता ख़ूब सजाया गया था। जगह-जगह पर तोरण-द्वार बनाए गए थे। दोनों ओर पताकाएँ फहरा रही थीं। रास्ते में जनवासे तक सुंदर मख़मली पाँवड़े बिछवा दिए गए थे। सारी बारात उन पाँवड़ों पर होती हुई जनवासे में पहुँची। महाराज ने जनवासे के लिये पहले से ही एक महल ठीक कर रक्खा था। उसकी ख़ूब सजावट की गई थी। पाहुनों के आराम तथा मन बहलाने के उसमें सभी सुबीते कर दिए गए थे। शरीर को सुख पहुँचानेवाले सब तरह के सामान देख लोग घर की भी ख़बर भूल गए और बार-बार महाराज जनक के सुप्रबंध की प्रशंसा करने लगे। बारातियों के भोजन के लिये

जनकजी ने न-जाने कितने तरह की मिठाइयाँ, कितने तरह के पक्वान्न, अचार, चटनी, शरबत आदि सामान भिजवाए। मिथिला में दही और चिउरा बेहिसाब होता है। महाराज ने यह सामान भी जनवासे में भिजवाने में कमी न की।

"दधि चिउरा उपहार अपारा : भरि-भरि काँवरि चले कहारा।"

महाराज जनक की यह सेवा—उनका यह प्रेम देख सभी बाराती मुग्ध हो गए। वे राह का सारा श्रम भूल गए और बार-बार उन्हीं की बड़ाई करने लगे। सचमुच में जनकराज ने इतना उत्तम प्रबंध किया था कि किसी भी बराती को शिकायत करने तक की गुंजायश न थी। इच्छा करते ही उसे वांछित वस्तु मिल जाती थी। महाराज ने ज़रूरी चीज़ों की रेल-पेल कर दी थी। पर मजाल नहीं कि कोई चीज़ बरबाद हो जाय—ऐसा उत्तम प्रबंध था। तब बाराती क्यों न उनकी बड़ाई करते ?

लग्न के समय बारात मंडप में पहुँची। यहाँ फिर जनकजी तथा उनके संबंधियों ने दिल खोलकर सबका स्वागत किया। महारानी ने सुहागिनी स्त्रियों के साथ दूल्हे की आरती उतारी। उस समय राम का वह सुंदर स्वरूप देखकर महारानी की छाती ठंढी हो गई। वे बार-बार बेटी के भाग्य की सराहना करने लगीं। स्त्रियाँ मंगल-गान करने लगीं। सीताजी की सखियाँ राम पर फूलों की वर्षा करने लगीं। ब्राह्मण मधुर-कंठ से वेद-मंत्रों का गान करने लगे। इस समय दोनों

ओर से इतने ज़ोर-ज़ोर से बाजे बजने लगे कि कानों के परदे फटने लगे। दस्तूर पूरा हो जाने पर सब बराती मंडप में यथा-स्थान जा बैठे। मंडप की रचना बड़ी सुंदर रीति से की गई थी। वह इतनी अच्छी रीति से सजाया गया था कि जहाँ नज़र जाती, वहीं जम जाती थी। उसे बार-बार देखने पर भी जी न भरता था।

उधर पुरोहित शतानंदजी ने सीताजी को मंडप में बुलवाया। सखियाँ उन्हें सुंदर वधू-वेश में सजाकर मंडप में ले आईं। सीताजी उस स्वर्ण-मंडप में ऐसी जान पड़ती थीं, जैसे सुंदरता की देवी अपने भक्तों को दर्शन देने आई हों। उनका वह पवित्र रूप देख बारातियों की आँखें निहाल हो गईं। और महाराज दशरथ तो फूले अंग न समाए। पुरोहितजी विवाह की क्रिया कराने लगे। तब महाराज जनक ने कन्यादान किया। उन्होंने अग्नि को साक्षी करके कहा—"राम, यही मेरी बेटी सीता है। आज तक यह मेरी बेटी थी, अब तुम्हारी पत्नी हुई। अब तुम्हीं इसके भाग्य-विधाता हो। तुम अपने हाथ से इसका हाथ पकड़ो। अब इसकी रक्षा का भार तुम पर रहा। परमात्मा तुम्हारा कल्याण करे और सीता को ऐसी बुद्धि दे कि यह हमेशा छाया की भाँति तुम्हारे साथ रहे।" यह कहते-कहते महाराज जनक की आँखें डबडबा आईं।

आज महाराज जनक की प्रतिज्ञा पूरी हो गई। सीताजी

वीर-श्रेष्ठ राम की धर्म-पत्नी हो गईं। दो जीवन-धाराएँ दूध-पानी के समान युग-युग के लिये एकरस हो गईं। नीले समुद्र में शुभ्र जलवाली सरिता मिल गई। द्वार पर नौबत झड़ने लगी। भिखारी मुँहमाँगा दान पाने लगे। स्त्रियाँ हर्ष-भरे हृदय से कानों में अमृत की बूँदें निचोड़ने लगीं। गुरुजन वर-वधू पर आशीर्वाद के रूप में कल्याण की वर्षा करने लगे।

महाराज जनक की एक और छोटी बेटी थीं—उनका नाम उर्मिला था। उनके भाई कुशध्वज के भी दो पुत्रियाँ थीं—मांडवी और श्रुतिकीर्ति। ये तीनों पुत्रियाँ भी सीताजी के समान ही रूपवती तथा गुणवती थीं। महाराज जनक ने दशरथजी से निवेदन किया कि मेरी इच्छा इन पुत्रियों का विवाह आपके ही पुत्रों के साथ करने की है। आनंद में यह और भी आनंद बढ़ानेवाली बात सुनकर दशरथजी मतवाले हो गए। उन्होंने जनकजी की बात फ़ौरन् मान ली। तब जनकजी ने लक्ष्मण के साथ उर्मिला का, भरत के साथ मांडवी का और शत्रुघ्न के साथ श्रुतिकीर्ति का विवाह कर दिया। उस समय इतना आनंद कोलाहल हुआ कि कानों पड़ी बात भी न सुन पड़ती थी। बाजों की घोर ध्वनि से आकाश भी कंपायमान होने लगा। होम धूप की गंध से सारी मिथिला-पुरी महक उठी। जनकजी ने चारों बेटियों को कितने गहने, कितने उत्तमोत्तम वस्त्र, कितना सोना-चाँदी, कितने हीरे-मोती,

कितने बर्तन-भाँड़े, कितने हाथी-घोड़े, कितनी गाएँ, कितनी गाड़ियाँ, कितने दास-दासी और कितनी दूसरी वस्तुएँ दहेज़ में दे डालीं, इसका कोई हिसाब ही न था। उस भारी दल-दंगल में हिसाब करने की फ़ुरसत ही किसे थी। महाराज दशरथ तो लक्ष्मी-जैसी चार पुत्र-वधुएँ पाकर अपने आपको भूल रहे थे।

कई दिन तक मिथिला में ख़ूब धूमधाम रही। ख़ूब आनंद बधावा हुआ। अंत में बिदा का दिन आ गया। जहाँ ख़ुशी अठखेलियाँ कर रही थी; वहीं उदासी छा गई। ख़ुशी का ही दूसरा नाम उदासी है। बेटी जितना हँसाती है, उतना ही रुलाती भी है। बेटी चार दिना की पाहुनी है। अंत में वह वहीं चली जाती है, जहाँ की वह धरोहर होती है। माता-पिता का हृदय चाहे मोम का हो, चाहे पत्थर का—संसार के कल्याण के लिये उन्हें उसका वियोग सहना ही पड़ता है। महारानी ने रोते-रोते बेटियों से कहा—"प्यारी बेटियो, तुम महा पवित्र निमिवंश की कन्याएँ हो और महाप्रतापी सूर्यवंश में बहुएँ बनकर जा रही हो। वहाँ इस तरह रहना जिससे दोनों कुलों का नाम बढ़े। अपने रहन-सहन और आचार-विचार से सभी को प्रसन्न रखना, तभी तुम्हारी बड़ाई होगी। पति को ही अपना परमेश्वर समझना। पति ही नारी का जीवन है, वही लोक-परलोक में नारी की गति है। सो बेटियो, पति को प्रसन्न रखना, तथा उसकी तन-मन से सेवा करना—यही अपना
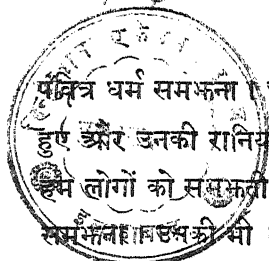
पवित्र धर्म समझना । आज से महाराज दशरथ तुम्हारे पिता हुए और उनकी रानियाँ तुम्हारी माताएँ । आज तक तुम जैसा हम लोगों को समझती आई हो, अब इसी तरह उनको भी समझना । उनकी भी तन-मन से सेवा करना—उन्हें प्रसन्न रखना । उनका आशीर्वाद तुम्हें लोक-परलोक में सुख देगा, पुरा-पड़ोसवालों से भी हिल-मिलकर रहना । उनसे मीठा बोलना, जिससे वे भी तुम्हारी बड़ाई करें । जो स्त्री पुरा-पड़ोस के आदमियों से मिलकर नहीं रहती, उसकी बड़ाई कोई नहीं करता । बेटी, मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम्हारा सुहाग अचल रहे—लोक में तुम्हारी बड़ाई होवे ।" यह कहते-कहते महारानी की आँखों से बड़े-बड़े मोती बरसने लगे । बेटियाँ भी उनसे लिपट-लिपटकर रोने लगीं । फिर तो सारे राज-महल में कुहराम छा गया । जिस समय राजकुमारियाँ पालकी पर सवार हुईं, महारानी प्राण-हीन शरीर के समान भूमि पर गिर पड़ीं । आज उनका बसा घर उजाड़ हो गया । उनके कलेजे की कोरें उनसे अलग हो गईं ।

महाराज जनक बारातियों को पहुँचाने चले । यद्यपि वे पूरे ज्ञानी थे, संसारी माया से उनका मन दूर ही रहता था, तो भी अपनी दुलारी बेटियों के वियोग ने आज उनकी बुरी हालत कर रक्खी थी । बार-बार उनकी आँखें डब-डबा आती थीं । उनकी यह दशा देख महाराज दशरथ ने उनसे कहा—"महाराज, आप तो ज्ञानी हैं, यह दुःख क्यों ? क्या वह आप

का घर नहीं है ? राजकुमारियाँ जैसी आपकी बेटियाँ हैं, वैसी ही मेरी भी। मैं उन्हें पुत्रों से भी प्रिय समझूँगा ! वहाँ उन्हें कोई कष्ट न होगा। फिर मिथिला से अयोध्या कुछ बहुत दूर तो है नहीं, आपकी ख़बर पाते ही बेटियाँ मिथिला आ पहुँचेंगी। आप किसी तरह अपना मन हलका न कीजिए।"

अब तो धीरज का बाँध टूट गया। कभी-कभी अधिक धीरज ही आँसुओं का रूप धारण कर लेता है। महाराज जनक की आँखों से बड़े-बड़े आँसू गिरने लगे। वे रुँधे गले से दशरथजी से बोले—"महाराज, आज से मैं आपका सेवक हुआ। आपसे संबंध कर मैं धन्य हो गया। मैं आपकी सेवा करने योग्य नहीं। मेरे पास है ही क्या, जो मैं आपकी सेवा कर सकूँ। जो धन था, वह आज आपको सौंप दिया। मुझ दीन पर सदा दया रखिएगा—यही प्रार्थना है। ये बेटियाँ अभी अबोध बच्चियाँ हैं। इन्हें अभी अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीं। यदि कभी इनसे भूल-चूक हो जाय, तो मेरे बुढ़ापे का ख़याल कर इन्हें क्षमा कीजिएगा। और अधिक क्या विनय करूँ, आप स्वयं बुद्धिमान् हैं। इन्हें भी अपनी ही बेटियाँ समझिएगा।"

महाराज जनक कुछ दूर तक बारात को बिदा कर अपने महल को लौट आए। उनका हृदय उमड़ उठता था। प्राण सीता की ओर दौड़े जाते थे, पैर आगे को नहीं उठते थे। पर

महाराज स्नेह को--मोह को किसी-किसी तरह दबाकर पहले के समान ही राज-काज में लग गए ।

गृह-लक्ष्मी

सीताजी ससुराल में आ गईं। अयोध्या-वासी बड़ी उत्सुकता से बारात लौटने की राह देख रहे थे। आज उनके आनंद का पारावार न रहा। झुंड-के-झुंड लोग बारात देखने आ पहुँचे। अयोध्या की सड़कों पर आदमी-ही-आदमी दिखने लगे। स्त्रियाँ अपनी-अपनी अटारियों के झरोखों में जा बैठीं। सब यही सोच रही थीं कि कब बारात यहाँ से निकले और कब हम उसे देखकर अपनी आँखें सुखी करें। चारो भाइयों का वह वर-वेश देख लोग फूले न समाए। उस समय उन्होंने इतने ज़ोर से जय-ध्वनि की कि सारा आकाश गूँज उठा। महिलाओं ने दूल्हों और बारातियों पर आशीर्वाद-सने बेहिसाब फूलों की वर्षा की। इस तरह नगर-निवासियों को सुखी करती हुई बारात राजमहल के सामने पहुँची। उसके आने की ख़बर पाते ही रनिवास की महिलाएँ जो जैसी बैठी थीं, वैसी ही दरवाज़े की ओर दौड़ीं। ज़ोर-ज़ोर से बाजे बजने लगे। महिलाएँ वीणा-ध्वनि को भी मात करनेवाले स्वर से मंगल-गीत गाने लगीं। रानियों ने प्रेम-भरे हृदय लेकर वरों तथा वधुओं की आरती उतारी और उन्हें गोद में लेकर महलों में ले गईं। पुत्र-वधुओं के चंद्रमा को भी लजानेवाले

मुखड़े देखकर रानियों का रोम-रोम प्रसन्नता से भर गया। सभी को बड़ा सुख हुआ। एक बार फिर राजमहल में आनंद की धूम मच गई। अयोध्या में दीवाली मनाई जाने लगी। जहाँ देखो, आनंद-ही-आनंद नज़र आता था। मानो अयोध्या में वह सैकड़ों-हज़ारों धाराओं में होकर बह रहा था। दीन-दुखियों ने कितना और मुँह-माँगा दान पाया, इसका कोई हिसाब न था। सीताजी ऐसी लक्ष्मी थीं कि उनके आते ही अयोध्या की दशा बदल गई। चारो ओर सुख-संपदा का राज्य छा गया। सभी के मुँह से एक ही बात निकली थी—सीताजी बड़ी भाग्यवान् हैं। उनके आते ही नगर में जैसे ही दुःख-दरिद्रता रह ही नहीं गई। ईश्वर करे उनका सुहाग युग-युग अचल रहे।

राम और सीता का प्रथम-मिलन हुआ। सीताजी की वह अपूर्व और पवित्र शोभा देखकर रामचंद्रजी के हृदय में आनंद लहराने लगा। सीताजी का वह सुंदर सुडौल शरीर, अंग-अंग की वह कोमलता, वह लज्जा-भरा भोला व्यवहार, वह दिव्य-छटा राम के हृदय में बस गई। उनके हृदय में तरह-तरह के अपूर्व-अनुपम भाव उठने लगे। सीताजी की वह पवित्र-मूर्ति राम ने बड़ी मज़बूती से अपने हृदय में छुपा ली—वह उनके रोम-रोम में समा गई। उस दिन से वह पवित्र मूर्ति उनकी आँखों में ऐसी समाई कि फिर कभी उनसे दूर न हो सकी। राम हमेशा के लिये सीता-मय हो गए। फिर कभी सीता उनके मन-प्राणों से दूर न हो सकीं।

उधर सीताजी की भी यही हालत हुई। राम का वह नयन-मनोहर घनश्याम रूप देखकर सीताजी का हृदय-कमल खिल उठा। उस समय रामचंद्रजी यौवनावस्था में प्रवेश कर रहे थे—उनके दिव्य-शरीर से रूप का रस बरस रहा था। मुखड़े पर तेज छा रहा था—उससे पवित्र-भाव जैसे टपके पड़ते थे। आँखों में एक विशेष प्रकार की चमक थी, उनसे उनकी विद्या-बुद्धि झलकी पड़ती थी। अंग-प्रत्यंग साँचे में ढल रहे थे—उनसे उनकी सुंदरता, कोमलता, दृढ़ता और वीरता का प्रकाश हो रहा था। सीताजी ने वह देव-मूर्ति फ़ौरन् अपने हृदय-मंदिर में छुपा ली और अपने आपको उनके चरण-कमलों पर निछावर कर दिया। देवी सीता ने अपनी पवित्र जीवन-धारा रामचंद्रजी की जीवन-धारा में मिला दी। जिस ओर को राम की जीवन-धारा बहती थी, सीता भी अपनी जीवन-धारा उसी ओर को बहाती थीं। सीताजी ने अपना मन राम के मन के साथ और प्राण राम के प्राण के साथ मिला दिए। दोनो जीवन दूध-शकर के समान सदा-सर्वदा को एक हो गए, जिनमें कभी वियोग की कलपना भी न रही। सीता राम हो गईं और राम सीता हो गए।

यौवनावस्था में प्रवेश करते ही सीताजी के हृदय में प्रेम की सरिता कलकल-ध्वनि से बहने लगी। वे प्रेम में ऐसी मग्न हुईं कि अपने आपको भूल गईं। पतिदेव के लिये ही उनका जीवन था, पति ही उनका प्रेम था, पति ही उनका ध्यान था, पति

ही उनका धर्म था और पति ही उनका प्राण था। जब उनको राम की याद आ जाती, तभी वे सौ काम छोड़कर उनका ध्यान करने लगती थीं। जब उनकी कोई सखी, दासी या सासुएँ राम की चर्चा करतीं तो मारे आनंद के उनका हृदय उछल उठता वे बड़े ध्यान से वह चर्चा सुनतीं और यही चाहतीं कि यह चर्चा थोड़ी देर और होती रहे।

रामचंद्रजी का भी यही हाल था। उनके हृदय में भी सीता का प्रेम जल-लहरी के समान हिलोरें लेता रहता था। वे भी सीता के प्रेम में डूबे रहते थे। सीताजी का चरित्र ऐसा पवित्र था—ऐसा प्रेममय था कि राम की चाह उन पर दिन-दिन बढ़ती ही जाती थी। सीता की याद आते ही उनका हृदय जैसे आनंद और प्रेम में डूब जाता था। हृदय में सीताजी की पवित्र-मूर्ति विराजमान है, इसलिये राम उसे बहुत ही शुद्ध और स्वच्छ रखते थे। कहीं उस मूर्ति पर ज़रा मलिनता न आ जाय। रामचंद्रजी युवराज होनेवाले थे—पिता के बाद वे ही राज्य के स्वामी होंगे। इसलिये उन्हें अभी से राज-काज सिखाने के विचार से दशरथजी उनसे कुछ-न-कुछ काम लेते ही रहते थे। रामचंद्रजी को बहुत देर तक बाहर रहना पड़ता था। वे बड़े ही परोपकारी थे। प्रजा की भलाई के कामों में उनका मन बहुत लगता था। वे अपने माता-पिता तथा गुरु की भक्ति भी बड़े सच्चे हृदय से करते थे। उनकी सेवा करना वे अपना परम धर्म समझते थे, इस लिये उन्हें अपने महल में आते-आते बहुत देर हो जाती

थी। सीताजी बड़ी व्याकुलता से उनके आने की बाट देखा करती थीं। राम के आते ही उनकी व्याकुलता दूर हो जाती थी। वे उनकी सेवा में लग जाती थीं।

महाराज दशरथ ने रामचंद्रजी के लिये अलग महल बनवा दिया था। सीताजी अपनी सखी-सहेलियाँ तथा दास-दासियों के साथ वहीं रहती थीं। वे राम को प्रसन्न रखने के लिये सौ-सौ तरह के यत्न करती थीं। पतिदेव की आज्ञा उनके सिर-माथे रहती थी। उनकी आज्ञा के विरुद्ध चलने का विचार सीताजी के मन में कभी आता ही न था। पतिदेव उन्हें जो शिक्षा देते थे, सीताजी उसे अपने हृदय में लिख लेती थीं। वे जनकराज-जैसे प्रतापी महाराज की पुत्री थीं; महाराज दशरथ-जैसे उदार राजा की बहू थीं, दास-दासियों की उनके महल में कमी न थी, फिर भी वे अपने ही हाथों पतिदेव के लिये रसोई तैयार करती थीं। अपने ही हाथों परोसकर उन्हें भोजन कराती थीं, और उस समय बड़े प्रेम से उन पर पंखा झलती रहती थीं। जब पतिदेव पलँग पर लेट जाते, तब सीताजी भी उनके पैर दाबते-दाबते सो जाती थीं। उनके इस प्रेम-भरे—सेवा-भरे बर्ताव से रामचंद्रजी बड़े ही सुखी रहते थे।

रामचंद्रजी भी सीताजी को प्रसन्न रखना अपना परम धर्म समझते थे। वे अपनी मीठी-मीठी और प्रेम-भरी बातों से सीताजी का मनोरंजन करते थे। उन्हें तरह-तरह के उपदेश दिया करते थे। धर्म की बातें सुनाते थे। वे कभी-कभी उन्हें

पतिव्रताओं की पवित्र कथाएँ सुनाते और स्त्री-धर्म का भी मर्म समझाते थे। सीताजी भी बड़े प्रेम और ध्यान से उनकी बातें

वे अपने हाथों पतिदेव के लिये रसोई तैयार करती थीं। अपने ही हाथों परोसकर उन्हें भोजन कराती थीं (पृष्ठ ३८)

सुनतीं तथा मन-ही-मन प्रसन्न होती थीं। पतिदेव का ऐसा

प्रेम देख उनका हृदय उमड़ उठता था। जब रामचंद्रजी माता-पिता की सेवा तथा राज के कामों से निपट कर आते, तो सीताजी को दिन-भर का सब हाल सुनाते थे। उस समय सीताजी भी उन्हें अपने बचपन तथा नैहर की कई कथाएँ सुनाती थीं। वे बचपन में देखे हुए वन-पर्वतों तथा आश्रमों का वर्णन बड़े प्रेम से सुनाती थीं। कभी-कभी उनके देखने की इच्छा भी प्रकट करती थीं। रामचंद्रजी सीताजी को प्रसन्न रखना तथा उनकी इच्छा पूरी करना अपने जीवन का एक बड़ा कर्तव्य समझते थे। लक्ष्मणजी उनके आज्ञाकारी पहले से ही थे। वे सीताजी को भी माता सुमित्रा के समान आदर की दृष्टि से देखते थे। सीताजी भी लक्ष्मण को अपने छोटे भाई के समान समझती थीं। रामचंद्रजी की आज्ञा पाते ही लक्ष्मणजी बड़े प्रेम और बड़ी भक्ति से सीताजी को वनों, पर्वतों और आश्रमों का सैर करा लाते थे। सीताजी राम-जैसे प्रेम-मय स्वामी को पाकर बार-बार अपने भाग्य की सराहना करतीं और परमेश्वर को धन्यवाद देती थीं। वे परमेश्वर से बार-बार यही मनाती थीं कि मैं जन्म-जन्म में राम की ही पत्नी होती रहूँ।

सीताजी दिन-रात रामचंद्रजी की सेवा में लगी रहती थीं, कुछ यही बात न थी। वे नित्य साँझ-सबेरे सास-ससुर के दर्शन करने जाती थीं। उनके चरण छूतीं और उनका प्रेम-भरा आशीर्वाद लेती थीं। फिर वे सासुओं से कहती थीं—'माता, मैं तुम्हारी दासी हूँ। आपकी सेवा करने से मेरे दोनों लोक बनेंगे।

मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं आपकी सेवा कर के अपना जन्म "सफल बनाऊँ" तब सासुएँ उनके सिर पर प्रेम से हाथ फेर-कर कहतीं—"मेरी प्यारी बेटी ! तुम्हारी मीठी-मीठी बातों से ही हमारा जी भर जाता है। हम तो यही चाहती हैं कि तुम आनंद से रहो, हम तुम्हारा प्रसन्न मुखड़ा देखती रहें। बस !" सच तो यह है कि सीताजी ने अपने प्रेम-भरे व्यवहार और मीठी-मीठी बातों से सासुओं तथा घर की बड़ी-बूढ़ियों का मन अपनी मुट्ठी में कर लिया था। सासुएँ सीताजी को अपनी बेटी के ही समान समझकर उन पर प्यार करती थीं। उनके इस उत्तम व्यवहार से सीताजी अपने माता-पिता को बहुत कम याद करती थीं, वे सास-ससुर को ही अपने माता-पिता समझने लगी थीं। जब राजमहल में नगर की महिलाएँ बैठने आतीं, तब रानियाँ सीताजी के बड़े गुण गातीं, भूलकर भी उनकी बुराइ न करतीं। कहतीं--"बहन ! हमारी सभी बहुएँ बड़ी अच्छी हैं, पर बड़ी बहू की बात ही क्या है ! बड़ी सुशील है, बड़ी गुणवती है। अहा उसकी बोली से जैसे फूल झरते हैं ! हमारी आज्ञा टालना तो उसने सीखा ही नहीं। हमारी सेवा करने की उसकी बड़ी साध रहती है। बहन ! सच मानो बड़ी बहू जैसे रूप में लक्ष्मी के समान है, वैसे ही गुण में सरस्वती के समान है। सच तो यह है कि हमारे बेटी नहीं थी सो भगवान् ने दया करके हमें सीता के रूप में यही गुणवती बेटी दे दी है रामचंद्रजी सीता की ऐसी बड़ाई सुनते, तो फूले अंग न समाते।

रामचंद्रजी को प्रति महीने बंधा हुआ खर्चा मिलता था, उससे अधिक एक पाई भी उन्हें न मिल सकती थी। परंतु सीताजी गृह-प्रबंध में बड़ी ही चतुर थीं। वे उसी आमदनी में बड़ी ही खूबी से महीना पूरा करती थीं। प्रबंध की तारीफ़ यह थी कि सब तरह का ख़र्चा करने पर भी उन्हें ख़र्च की कमी न पड़ती थी। वे उस आमदनी में से धर्म-पुण्य भी करती थीं, दीन-दुखियों को सहायता भी देती थीं और मौक़े-मौक़े पर दास-दासियों को पुरस्कार भी उदारता-पूर्वक देती थीं। और उसी आमदनी में से खाने-पीने तथा कपड़े-लत्ते का ख़र्च भी चलता था। इतने पर भी सीताजी उसमें से कुछ-न-कुछ बचा भी लेती थीं, कहीं फ़जूल-ख़र्ची का नाम भी न था। सीताजी हमेशा आमदनी के भीतर ही ख़र्च करती थीं। वे कभी रामचंद्रजी को इस बात के लिये दिक़ न करती थीं कि आज घर में यह नहीं है वह नहीं है, इस वस्तु की आवश्यकता है उस वस्तु की आवश्यकता है। मतलब यह कि सीताजी ने गृह-प्रबंध का सब भार अपने ऊपर ही ले रक्खा था। रामचंद्र को कभी गृह-प्रबंध की चिंता से चिंतित होने का मौक़ा ही न आता था।

महल में दास-दासियों की कुछ कमी न था। परंतु अचरज की बात यह थी कि सीताजी के सुप्रबंध के कारण वे स्वाधीन थे और पराधीन भी! सीताजी ख़ुद ही घरू कामों को मन लगाकर करती थीं, जिससे दास दासियों को मनमानी करने

का मौक़ा ही न मिलता था। वे सीताजी के स्वभाव को ख़ूब परख गए थे, जिससे उन्हें सीताजी की इच्छा के विरुद्ध कोई काम करने की हिम्मत ही न होती थी। सीताजी उनके कामों पर चुपचाप नज़र रखती थीं। जिससे एक तो कोई काम बिगड़ता ही न था, और यदि कभी बिगड़ भी जाता, तो सीताजी बड़े प्रेम से उन्हें उनकी ग़लती समझा देतीं और आगे को सावधान भी कर देती थीं। सीताजी के मधुर व्यवहार से दास-दासियों के मन में कभी मैल भी न आता था। उनके मन पर मालकिन का ऐसा कुछ असर पड़ गया था कि यद्यपि उन्हें बड़ी सावधानी से कार्य करने पड़ते थे तो भी वे अपनी मालकिन के भक्त हो गए थे। सीताजी अपने सेवकों के दुःख-दर्द को अपना ही दुःख-दर्द समझती थीं। माता जिस प्रकार अपने पुत्रों की ख़बरदारी रखती हैं, सीताजी भी उसी प्रकार अपने दास-दासियों की ख़बरदारी रखती थीं। इस प्रकार उन्होंने दास-दासियों को मुट्ठी में कर रक्खा था।

सीताजी ने अपने मायके में अच्छी शिक्षा पाई थी, जिससे वे बड़ी ही विदुषी और विचारशीला हो गई थीं। रामचंद्रजी उनके इस गुण से ख़ूब लाभ उठाते थे। जब कभी उनके सामने कोई कठिन काम आ जाता, या उनसे कोई काम बिगड़ जाता और उनकी बुद्धि आगे न चलती, तब वे सीताजी से ही राय लेते थे। सीताजी भी उन्हें ख़ूब सोच-समझकर राय देती थीं, और उस राय से रामचंद्रजी बहुधा

लाभ भी उठाते थे। इस प्रकार सीताजी राम के लिये चतुर मंत्री थीं, सुयोग्य कोषाध्यक्ष थीं और कुशल गृह-लक्ष्मी तो थी हीं। सीताजी के पास जो नव-वधुएँ या कुमारी कन्याएँ बैठने आतीं, उन्हें भी सीताजी बड़े सुंदर ढंग से गृह-प्रबंध की उपयोगी शिक्षा देती थीं।

जब सीताजी के पास पुरा-पड़ोस की स्त्रियाँ बैठने को आतीं, तो सीताजी अपने बड़प्पन का तनिक भी विचार न करके उनका ख़ूब आदर-सत्कार करतीं, उनसे नम्रता-भरी मीठी-मीठी बातें करके उनका जी प्रसन्न कर देतीं! उनके लड़के-बच्चों को तरह-तरह के खिलौने देतीं और मिठाइयाँ खिलातीं। जब वे लौटकर जातीं, तो आपस में कहतीं—"बहन महारानी कौशल्या कैसी भाग्यवान् हैं! भगवान् ने उन्हें जैसा बेटा दे दिया है, वैसा ही बहू भी दी है! अरी देखो तो, इतने बड़े राजा की बहू होने पर भी उसमें घमंड नाम को नहीं है! बच्चों पर वह कैसा प्यार करती है? सचमुच में कौशल्या ने लक्ष्मी बहू पाली है।"

इस प्रकार घर-घर सीताजी के गुण गाए जाते थे। रामचंद्रजी ऐसी गुणवती पत्नी पाने से अपने को बड़ा ही भाग्यवान् समझते थे। पति-पत्नी की प्रेम-बेलि निन-दिन बढ़ती जाती थी! घर में सुख था, बाहर सुख था—चारो ओर सुख, ही सुख था।

——:-०-:——

रंग में भंग

रामचंद्रजी धीरे-धीरे राज-कार्यों में ख़ूब चतुर हो गए। जहाँ वे एक ओर प्रजा की भलाई में मग्न रहते थे, वहाँ दूसरी ओर पापियों और दुष्टों को सज़ा भी कसकर देते थे। नतीजा यह हुआ था कि राज्य में चारो ओर शांति छा गई थी, और प्रजा आनंद से अपनी उन्नति कर रही थी। वह उन्हें महाराज दशरथ से भी अधिक चाहती थी। रामचंद्रजी के प्रति प्रजा का यह प्रेम देख महाराज दशरथ बहुत संतुष्ट हुए। उन्होंने एक दिन राज-सभा में गुरु वशिष्ठजी से कहा—"महाराज, अब मैं बूढ़ा हो गया। राज्य करते-करते मेरी उमर बीत गई। आप लोगों के आशीर्वाद से मेरी सारी इच्छाएँ पूरी हो गईं। अब तो राज का यह बोझ मुझसे नहीं सँभलता। मेरी इच्छा होती है कि अब भगवान् की भक्ति कर उस लोक के लिये भी कुछ पुण्य कमा लूँ। राम भी सयाना हो गया है। अब वह राज-काज बख़ूबी चलाता है। मेरी इच्छा है कि उसे राज-काज सौंपकर वन की राह लूँ। यही इच्छा काहे को बाक़ी रह जाय ? शरीर का कोई ठिकाना नहीं ; आज है, कल नहीं।"

यह सुन गुरुजी प्रसन्न होकर बोले—"राजन्, यह बात आपने मेरे मन की कही। रामचंद्र अब सब तरह से योग्य हो गए हैं।

वे सच्चरित्र भी हैं, नीति भी ख़ूब जानते हैं और प्रजा भी उनसे प्रसन्न है। इसलिये उन्हें राजा बना देने में, मैं तो कोई हानि नहीं देखता। अब आप यह काम कर ही डालिए।"

दूसरे मंत्रियों ने भी राजा को यही सलाह दी। तब दशरथ-जी ने "तो अच्छे काम में देरी करना भी अच्छा नहीं" कहकर मंत्रियों को आज्ञा दी कि "राजतिलक की तैयारी बहुत जल्दी की जाय। कल ही राम को राजतिलक दिया जायगा।" महाराज की यह आज्ञा सुनते ही सब दरबारियों को इतना हर्ष हुआ कि सारी राज-सभा आनंद-ध्वनि से गूँज उठी। क्षण-भर में ही यह आनंद-समाचार अयोध्या-भर में फैल गया। सब लोग आनंद में मग्न हो गए। चारो ओर आनंद मनाया जाने लगा। रामचंद्रजी की जय-ध्वनि से अयोध्या बार-बार गूँजने लगी। घर-घर सफ़ाई होने लगी, द्वारों पर बंदनवार बाँधे जाने लगे। सड़कें गुलाब-जल से सींची जाने लगीं। राम-चंद्रजी के राजतिलक का समाचार सुनकर कोई धन-दान करने लगा, तो कोई गाने-बजाने की धुन में ही मस्त हो गया। इस प्रकार जहाँ देखो, वहीं राग-रंग और आनंद-मंगल नज़र आने लगा। और राजमहल का तो कहना ही क्या। द्वार पर नौबतें झड़ने लगीं। राज-कर्मचारी झपट-झपटकर ज़रूरी सामान जुटाने लगे। राज-महल में यह ख़बर पहुँची, तो रानियाँ फूले अंग न समाईं। महारानी कौशल्या तो बार-बार परमात्मा को धन्यवाद देने लगीं। राजगुरु वसिष्ठजी ने राम तथा सीता

को व्रत और नियम पालन करने का उपदेश दिया। सीताजी के आनंद का ठिकाना न रहा। कुछ इस विचार से नहीं कि मैं राज-रानी होकर मनमाने काम करूँगा, वरन् इस विचार से कि पतिदेव कल लाखों-करोड़ों आदमियों के स्वामी होंगे, मैं उनके उपकार में अब और भी मन लगाऊँगी, अब उनपर और भी दया कर सकूँगी, स्त्रियों की शिक्षा के लिये नए-नए ढंग ढूँढ़ निकालूँगी। दोनों पति-पत्नी बड़े आनंद से ईश्वरोपासना में लीन हो गए। इस प्रकार चारों ओर आनंद-धारा बह रही थी। पर यह ख़याल किसी को भी न था कि आज जहाँ जय-जय-ध्वनि हो रही है, वहीं कल हाहाकार की गूँज होगी; जहाँ आज लोग आनंद से हँस-खेल रहे हैं, वहीं कल सब सिसकियाँ लेते हुए दिखाई देंगे।

दुष्ट लोगों का स्वभाव बहुत ही बुरा होता है। वे अकारण ही दूसरों का बुरा सोचा करते हैं, दूसरों का आनंद देख उनकी छाती में शूल छिदने लगता है। यही हाल इस समय मंथरा का हो रहा था। मंथरा महारानी कैकेयी की दासी थी। वह दासी उन्हें अपने नैहर से दहेज में मिली थी। मंथरा कैकेयी को बहुत चाहती थी क्योंकि उसने उन्हें छुटपन से अपनी गोद में खिलाया था। मंथरा बड़ी ही कुरूप थी, उसकी कमर टेढ़ी पड़ गई थी। सब लोग उसे कुबड़ी नानी कहा करते थे। मंथरा जैसी रूप-रंग में ख़राब थी, स्वभाव से भी वैसी ही थी। ज्योंही उसने राम के राजतिलक की ख़बर सुनी, त्योंही

उसके पेट में उर्द-मूँग उबलने लगे। वह बेचैन हो लाठी टेकती हुई महारानी कैकेयी के पास चली।

उस समय महारानी बैठी-बैठी फूलों का हार बना रही थीं। 'महाराज अभी दरबार से आवेंगे, उनके गले में प्रेम से यह हार पहनाऊँगी। वे इसे देखकर कितने प्रसन्न होंगे! महारानी ऐसी-ही-ऐसी बातें सोचती हुई प्रेम-मयी हो रही थीं। मंथरा ने आते ही उनसे कहा—बेटी, बसंत की भी कुछ खबर है या हार ही गूँथती रहोगी?" उसकी यह बात सुनते ही महारानी चौंक उठीं। उन्होंने घबराकर उससे पूछा—'क्यों, कुशल तो है?' मंथरा ने जवाब दिया—'हाँ, कुशल ही है। कल राम का राजतिलक होगा!' कैकेयी राम को भरत के बराबर ही प्यार करती थीं। यह खबर सुनते ही पुलकित हो उठीं। उन्होंने अपना नौलखा हार उतारकर मंथरा से कहा—"माँ! तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर! तुमने अच्छी खबर सुनाई। अच्छा, अभी तो यह हार लो! मन को उदास मत करो। राम का राजतिलक हो जाने दो, फिर और भी इनाम मिलेगा।"

परंतु मंथरा ने वह हार कोने में फेंक दिया। उसकी आँखों डबडबा आईं। यह देखकर महारानी घबरा गईं। उन्होंने बड़े प्यार से मंथरा से पूछा—"मा, बात क्या है? आज तुम इतनी दुःखी क्यों हो?" मंथरा ने दुःख-भरी आवाज़ में उत्तर दिया—"बेटी, तुम रानी हो, मैं तुम्हारी दासी हूँ, बुढ़िया हूँ। मेरा कहा क्यों मानोगी। वहाँ तुम्हारे सर्वनाश की तैयारी हो

रही है, और यहाँ तुम फूले अंग नहीं समातीं ! मैंने तो जब से यह ख़बर सुनी है, पागल हो रही हूँ !" बुढ़िया की बातें सुनकर महारानी को हँसी आ गई। उन्होंने उसे जवाब—"ज़रूर तुम पागल हो रही हो, तभी ऐसी बातें बकती हो। राजा मुझे प्राण-प्रिय समझते हैं, मैं राजरानी हूँ। राम माता के समान मेरी पूजा करते हैं, कल मैं राजमाता बन जाऊँगी ! फिर मेरे सर्वनाश की तैयारी कैसी ? ख़बरदार ! अब कभी मेरे समान ऐसी बेहूदी बातें मत करना !"

तब मंथरा बड़े ही प्यार से बोली—"बेटी, तुम बूढ़ी होने को तो आईं ; पर तुम्हारा भोलापन अब तक न गया ! मैं तो तुम्हारे भले को ही कहती हूँ और तुम नाराज़ होती हो ! पर लाचार हूँ, विना कहे जी नहीं मानता ! तुम तो यहाँ अपने रूप के घमंड में बैठी हो, और वहाँ तुम पर दुःख का पहाड़ पटका जा रहा है। अब तुम्हारा सब आदर और पड़प्पन चल बसा ! अब दारिद्रता ही तुम्हारे पल्ले में रह गई ! राजा तुम्हारे सौतेले बेटे को राजा बना रहे हैं, और उन्होंने तुम्हारी सलाह तक नहीं ली ! इसी से उन्होंने भरत को पहले से ही मामा के यहाँ भिजवा दिया है। अब मालूम हुआ कि राजा का यह प्यार केवल बनावटी था, बेटी, कल से तुम कौशलल्या की दासी हो जाओगी और मेरा प्यारा भरत राम का दास होकर रहेगा ! कल से तुम दोनो को कौन पूछेगा ? हाय ! मैं यह कैसे देख सकूँगी ! बेटी चेतो, अब भी चेतो ! अभी एक रात बाक़ी

है। नहीं तो कल राम राजा हो जायँगे, फिर पछताना ही हाथ रह जायगा !"

महारानी कैकेयी का स्वभाव बड़ा ही सरल और सुंदर था। परंतु वे बुद्धि की कच्ची थीं। उन पर मंथरा का जादू चल गया। उन्हें सौतियाडाह ने आ घेरा। वे सोचने लगीं—मंथरा कहती तो सच है। मेरा भरत राम से किस बात में कम है ! राजा ने उसे पहले से ही मामा के घर भेज दिया है और अब राम को राजगद्दी दी जा रही है। महाराज ज़रूर मुझसे कपट करते हैं, तभी तो उन्होंने मुझसे सलाह तक नहीं ली। उन्होंने घबराकर मंथरा से कहा—"मा, तुम्हारा कहना मैं अब समझी। यहाँ तुम्हीं मेरी भलाई चाहनेवाली हो ! बताओ, अब क्या करूँ ?"

मंथरा प्रसन्न होकर बोली—"सचमुच में तू बड़ी ही भोली है ! अरी पगली, इसका उपाय तो तेरे ही हाथ है। क्या तू उस युद्ध की बात भूल गई, जब महाराज संबरासुर से युद्ध करने गए थे ? उस युद्ध में महाराज घायल होकर मरने-मरने को हो गए थे। तब तूने ही तो उनकी प्राण-रक्षा की थी, जिससे उन्हों-ने प्रसन्न होकर तुझे दो वरदान देने का वचन दिया था। वे वरदान तूने अब तक नहीं माँगे। आज ही उनके माँगने का मौक़ा है। पहले वरदान में भरत को राज माँग ले और दूसरे वरदान में राम को चौदह बरस का वनवास। इस से बड़ा काम निकलेगा। जब तक राम वन में रहेंगे, तब तक भरत

राज-पाट सँभाल लेंगे। फिर राम की दाल न गलेगी। राजा बड़े ही सत्यवादी हैं। यदि तू अड़ जायगी, तो वे ज़रूर ही ये वरदान दे डालेंगे। पर एक काम करना। इन वरदानों की बात सुनते ही महाराज बिगड़ेंगे, तुझे बहुत-कुछ ऊँच-नीच समझायँगे, पर तू एक न मानना, अड़ी-भर रहना। बस! फिर आनंद-ही-आनंद है।"

मंथरा की ये बातें सुन कैकेयी बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने उसकी बड़ी बड़ाई की। इस प्रकार मंथरा भुस में चिनगारी छोड़, वह हार उठा ख़ुशी-ख़ुशी वहाँ से चलती बनी। उसके जाते ही महारानी ने गहने-कपड़े फेंक दिए, मैला वेश बना लिया, और वे ग़ुस्से में भरकर कोपभवन में जा पड़ीं।

बाहर के कामों से छुट्टी पाकर महाराज प्रसन्न होते हुए महलों में पहुँचे। देखा तो महलों में आनंद-मंगल हो रहा है। दासियों और रानियों की सखी-सहेलियाँ मंगल-गीत गा रही हैं। महारानी कौशल्या और सुमित्रा देवी पुत्र के कल्याण के लिये पूजा-पाठ कर रही हैं। यह सब देखते हुए महाराज अपनी सबसे प्यारी रानी कैकेयी के महल में पहुँचे। वहाँ उन्हें एक दासी से मालूम हुआ कि रानीजी आज कोपभवन में हैं! यह सुनते ही महाराज के होश जाते रहे। वे घबराए हुए कोपभवन में पहुँचे। उन्होंने देखा कि महारानी ने मैले-कुचैले कपड़े पहन रक्खे हैं, गहने उतार फेंके हैं और वे धरती पर पड़ी-पड़ी चुपचाप आँसू बहा रही हैं। महाराज को बड़ा दुःख हुआ।

उन्होंने बड़े प्यार से महारानी से कहा--"प्रिये ! तुम्हारा यह क्या हाल है ? आज तो बड़े आनंद का दिन है। कल तुम्हारे

प्रिये ! तुम्हारा यह क्या हाल है ? आज तो बड़े आनंद का दिन है

राम को राजतिलक दिया जायगा ! ऐसे अच्छे समय में तुमने यह कैसा भेष बना रक्खा है ? तुम्हारी यह दशा देखकर मुझे

बड़ा दुःख हो रहा है। तुम्हें किस बात का रंज हुआ? तुम जो कहो, वही हो सकता है। बात क्या है? मैं भी तो सुनूँ!" यह कहते-कहते महाराज ने उन्हें झाड़-पोंछकर सावधान किया और वे उन्हें बार-बार मनाने लगे। तब महारानी ने उनसे कहा—"महाराज, आप बड़े सत्यवादी हैं, कभी झूठ नहीं बोलते। मैं आपसे कोई नया वर तो माँगती नहीं, आज मेरे पिछले दोनों वर देने की कृपा कीजिए!"

महाराज ने हँसकर उन्हें जवाब दिया—"बस, इतने के लिये ही रूठ रही हो? ऐसी ख़ुशी के समय मैं तुम्हें दुःखी नहीं देखना चाहता! मैं रघुवंशी हूँ, झूठ बोलना मैं पाप समझता हूँ। जो तुम्हें माँगना हो, खुशी से माँग लो।"

तब कैकेयी ने कहा—

"सुनहु प्राणपति भावत जी का। देहु एक वर भरतहिं टीका॥
दूसर वर माँगौं कर जोरी। पुरवहु नाथ, कामना मोरी॥
तापस वेश विशेष उदासी। चौदह वर्ष राम वनवासी॥

"महाराज, मैं पहला वर तो यह चाहती हूँ कि राज्य मेरे बेटे भरत को दीजिए और दूसरा वर यह कि रामचंद्र को मुनि-वेश में चौदह बरस के लिये वन को भेज दीजिए। बस, मैं और कुछ नहीं चाहती और न इतने से कम में राज़ी ही हो सकती हूँ। यदि आपको सत्य प्यारा हो, तो मेरी इच्छा पूरी कीजिए, नहीं तो मैं यहीं प्राण त्याग दूँगी।"

बेचारे बूढ़े राजा को क्या मालूम थी कि अभी बिना

बादल के बिजली गिरनेवाली है। रानी की बातें सुनते ही वे मूच्छित हो गए। बड़ी मुश्किल से होश-हवास सँभालकर वे कैकेयी से कहने लगे--"प्रिये! आज तुम कैसी बहकी-बहकी बातें कर रही हो? कहीं किसी के कहने-सुनने में तो नहीं लग गईं या मुझसे हँसी तो नहीं कर रही हो? भरत के लिये राज माँगना तो हो सकता है, पर राम के लिये वनवास का वरदान माँगना कैसा? प्रिये! जल्दी कहो, मैं बहुत घबरा रहा हूँ।"

तब महारानी ने नाराज़ होकर उन्हें जवाब दिया—"महाराज, दिल्लगी के भरोसे न रहिए। मैं सचमुच में यही दो वरदान चाहती हूँ। यदि सत्य प्यारा हो, तो मेरी इच्छा पूरी कीजिए, नहीं तो जाने दीजिए।"

महाराज की आँखों में आँसू भर आए। उन्होंने कैकेयी से कहा—"प्रिये, तुम राम से इतनी नाराज़ क्यों हो? अभी तक तो तुम उसे भरत के समान ही चाहती थीं। आज तुम्हें क्या हो गया? अहा! राम कैसा प्यारा लड़का है! वह मेरी आज्ञा कभी नहीं टालता! मेरे कहने से ही वह राज्य भरत को दे डालेगा! प्रिये मैं खुशी से सारा राज्य भरत को ही दे दूँगा। पर इतनी दया मुझ पर करो—राम को वन को न भेजो, नहीं तो मैं विना ही मौत के मर जाऊँगा। तुम इसके बदले कोई दूसरा वर माँग लो।" यह कहते-कहते महाराज अबोध बच्चे की नाईं फूट-फूटकर रोने लगे।

मारे शोक के महाराज की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उन्होंने कैकेयी को कितना ही समझाया, वे उनके सामने कितनी ही रोए-गाए; पर वे टस से मस न हुईं। उन पर मंथरा ने ऐसा जादू चला दिया था कि उन्हें महाराज पर ज़रा भी दया न आई। तब धर्म की फाँसी में जकड़े हुए राजा ने जी कड़ा करके महारानी से कहा—"अच्छा, तू नहीं मानती है, तो जैसा तुझे दिखे, वैसा ही कर। तूही राम को वन में भेज दे।" इस प्रकार राजा ने अपने प्राणप्यारे पुत्र को धर्म की रक्षा के लिये—सत्य की रक्षा के लिये वन में भेजना स्वीकार कर लिया। इतना कहके राजा फिर बेहोश हो गए। इस प्रकार महाराज रह-रहकर मूर्च्छित होते थे, और होश में आते ही रो-रोकर महारानी को समझाते थे। इसी तरह दुःखी होते-होते महराज ने वह रात व्यतीत की।

जो महारानी कैकेयी हमेशा राजा को ज़रा भी दुखी देखते ही बेचैन हो जाती थीं, आज उन्हीं प्राण-पति को इस प्रकार दुखी देखकर भी उनका हृदय क्षण-भर के लिये भी न पसीजा! पतिव्रता स्त्रियाँ भी दुष्टाओं के बहकावे में आकर कैसी कठोर और निर्दयी बन जाती हैं? अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मार लेती और पीछे पछताती हैं।

वन-गमन

सबेरा हुआ। थोड़ी देर बाद ही रामचंद्रजी को राजतिलक होगा, वे अयोध्या के स्वामी होंगे। नगर-भर में ख़ुशी मनाई जाने लगी। जलसे की तैयारियाँ और भी ज़ोरों से होने लगीं। राम बड़े सबेरे उठे और स्नान-संध्या से छुट्टी पा रेशमी कपड़े पहन राजतिलक के लिये तैयार हो गए। सीताजी मन-ही-मन मगन होने लगीं। माता कौशल्या और सुमित्रा भी फूले अंग नहीं समातीं। वे बार-बार राम के राजा होने की ख़ुशी में परमात्मा को धन्यवाद दे रही हैं। दास-दासी इनाम पाने के लोभ से बिना ही कहे झपट-झपटकर काम कर रहे हैं। लक्ष्मणजी का तो कुछ हाल ही न पूछो। आज मानो उन्हें सारे संसार का ही राज्य मिल गया है। मारे ख़ुशी के मग्न हो रहे हैं कि बड़े भैया की सेवा कर सुख से दिन बितावेंगे। हाय! यह किसी को नहीं मालूम कि भाग्याकाश में ज़ोरों से काली-घटा उठ रही है, जो अभी घुमड़-घुमड़कर बरसेगी और सारे आनंद को दुःख के सागर में बहा ले जायगी।

महाराज दशरथ प्रतिदिन बड़े तड़के बिछौना छोड़ देते थे और स्नान-संध्या कर मंत्रियों से दिन-भर के कामों के विषय में सलाह कर लेते थे। पर आज ऐसा आवश्यककाम होने पर भी वे अभी

तक महल के बाहर नहीं आए, यह देख मंत्री सुमंत्र कुछ चिंतित हुए। वे उदास मन महल के द्वार पर पहुँचे और भीतर ख़बर भिजवाई कि श्रीमहाराज अब तक क्या कर रहे हैं? उनकी तबियत तो ठीक है? महारानी का जी तो अच्छा है? दासी ने आकर सुमंत से कहा—"आज महाराज श्रीराम के राजतिलक के आनंद में रात-भर जागते रहे हैं। सबेरा होते-होते उन्हें नींद आ गई है। इसी से अब तक नहीं जाग सके। आप अभी रामचंद्रजी को यहाँ भेज दीजिए।"

सुमंत्रजी फ़ौरन् रामचंद्रजी को वहाँ बुला लाए। रामचद्रजी पिता को दुःखी और बेहोश देख बड़े दुःखी हुए। उन्होंने कैकेयी से पूछा—"माता, मैंने तो अपने जान में कोई अपराध नहीं किया और अनजाने यदि मुझसे कुछ भूल-चूक हो गई हो, तो आप उसे क्षमा कीजिए। मैं तो आपका पुत्र ही हूँ। पिताजी क्यों इतने दुःखी हो रहे हैं? आज मुझसे बोलते भी नहीं। मुझ से उनका दुःख नहीं देखा जाता! क्यों मा, पिताजी आज क्यों इस तरह दुःखी हो रहे हैं?"

तब कैकेयी ने उन्हें जवाब दिया—"राम! न तो तुमने कोई अपराध किया है और न महाराज को किसी बात का दुःख ही है। वे किसी पर नाराज़ भी नहीं हैं! बात यह है कि मैंने उनसे अपने पिछले दो वर माँगे हैं, परंतु महाराज विना तुम्हारी सहायता के अपने वचन पूरे नहीं कर सकते। वे तुमसे उन बातों को कहते हुए भी डरते हैं, क्योंकि तुम उन्हें बहुत

ही प्यारे हो। राम ! धर्मात्मा मनुष्य को अपनी बात ज़रूर पूरी करनी चाहिए। आज महाराज तुम्हारे कारण बड़े ही धर्म-संकट में पड़ गए हैं। यदि तुम उनके वचन पूरे कर देने का वादा करो, तो मैं तुम्हें उनकी आज्ञा सुना दूँ।"

राम का मुखड़ा चमक उठा। उन्होंने बड़ी ही ख़ुशी से कहा—"मा ! यह तो ज़रा-सी बात है ! पिता का धर्म-संकट दूर करने के लिये मैं क्या नहीं कर सकता ? उनकी आज्ञा पाते ही मैं दहकती हुई आग में भी कूद सकता हूँ, अथाह समुद्र में भी डूब सकता हूँ और हलाहल विष भी पी सकता हूँ। ऐसा कोई काम नहीं; जो पिता की आज्ञा पाते ही मैं न कर सकूँ। आप बेधड़क पिताजी की इच्छा मुझे सुनाइए।"

"देखो राम ! पिता की आज्ञा कोई हँसी-खेल की आज्ञा नहीं है। कहीं मुकर न जाना, अपनी बात के पक्के रहना।" यह कहकर कैकेयी ने राम को अपने हृदय की सब बातें सुना दीं।

राम के मुखड़े पर मुसकिराहट झलक गई। उन्होंने कैकयी से कहा—बस ! इतनी-सी बात के लिये इतना बखेड़ा ! मा ! तुम भी मेरे स्वभाव को जानती हो, पिताजी भी मेरे स्वभाव को जानते हैं। मैं माता-पिता की आज्ञा का पालन करना ही अपना धर्म समझता हुँ। इतना जानते हुए भी आपको यह टंटा-बखेड़ा न करना था ! ज़रा-सी बात थी, पहले ही सुना दीजाती ! इसके लिये इतने दुःख और सोच-संकोच की क्या आवश्यकता थी ? भरत मेरा प्यारा छोटा

भाई है ! मैं उसे क्या नहीं दे सकता ? अयोध्या की राज्य कोई ऐसी चीज़ तो है नहीं, जो भाई से बढ़कर प्रिय हो। वह राजा होगा, मैं उसका बड़ा भाई कहलाऊँगा। इससे तो मेरा बड़-प्पन और भी बढ़ जायगा। रही वन जाने की बात, सो यह तो मेरे लिये बड़े ही आनंद की यात्रा होगी। मज़े से वन-पर्वतों की शोभा देखूँगा, जंगल के फल-फूल खाकर झरनों का ठंढा पानी पिऊँगा। ऋषियों के पवित्र आश्रमों के दर्शन करूँगा और उनके सुंदर उपदेश सुन-सुनकर अपने जीवन को भी पवित्र बनाऊँगा। बड़े मज़े की यात्रा रहेगी। अच्छा, मैं अभी माता-पिता को प्रणामकर तथा चीर-वल्कल पहनकर वन को जाता हूँ।"

रामचंद्रजी इतना कहते-कहते बाहर निकल आए। उनके मुखड़े पर उदासी की छाया भी न थी। राज्य मिलने की बात से तो न वे मारे आनंद के मतवाले ही हुए थे और न उसके बदले वनवास मिलने से उदास ही हुए। उनके वहाँ से जाते ही महाराज दशरथ "हा राम" कहकर बेहोश हो गए। दरिद्र का धन लुट गया, अंधे की लाठी छिन गई। महाराज छटपटाने लगे। उनकी आँखें मुँद गईं और उनसे उनके हृदय का भारी दुःख सौ-सौ धाराओं में बहने लगा। परंतु महारानी कैकेयी का हृदय न पसीजा। उनका मुखड़ा विजय-श्री से चमक उठा। उस पर मुसकान अठखेलियाँ करने लगीं। हा ! पुत्र-वत्सला माता अपने प्यारे पुत्र के लिये अपनी माँग का

सिंदूर अपने हाथों पोंछ रही थीं। माता कैकेयी ! तुम्हारा पुत्र-प्रेम धन्य था ! तुम्हारा यह अपूर्व त्याग धन्य था !

रामचंद्रजी वहाँ से चलकर माता कौशल्या के पास पहुँचे। वे उस समय पूजा कर रही थीं। पुत्र को सामने देख, वे उठ खड़ी हुईं। उन्होंने बड़े प्यार से राम का सिर सूँघा और उन्हें आशीर्वाद दिया। तब राम ने उनसे कहा—"मा, आज की सारी ख़ुशी रंज में बदल गई है। राजसिंहासन के बदले में कठिन परीक्षा में पड़ गया हूँ। पिताजी तथा माता कैकेयी मेरा धर्म-परीक्षा लेनी चाहती हैं। उस परीक्षा के लिये मुझे हृदय बहुत बलवान् बनाना पड़ेगा। धर्म-वेदी पर स्वार्थ का बलि-दान करना पड़ेगा। सो माता, मुझे ऐसा आशीर्वाद दो, जिससे मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाउँ।"

कौशल्याजी राम की बातों का कुछ मतलब न समझ सकीं। वे अचरज की निगाहों से बार-बार राम की ओर देखने लगीं ! तब रामचंद्रजी ने उन्हें सब हाल सुना दिया। सुनते ही कौशल्याजी कटे वृक्ष की नाईं धरती पर गिर पड़ीं और हा-हा-कार करती हुई बेहोश हो गईं। दासियाँ दौड़कर आ गईं। सबने बड़ी मुश्किल से उन्हें सचेत कराया। सब कैकेयी को बुरा-भला कहने लगीं। कौशल्या ने राम से कहा—"मेरे लाल ! मैं तुम्हें वन को न जाने दूँगी ! मेरे प्राण तुन्हीं में बसते हैं, तुम्हें छोड़कर मैं चार दिन भी न जी सकूँगी। और जो तुम न मानोगे, तो मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूँगी।" तब राम ने माता से कहा—"मा तुम ज्ञान-

वान् होकर कैसी बातें करते हो ? माता-पिता की आज्ञा मानना पुत्र का धर्म है। यदि मैं वन को न जाऊँगा, तो पिताजी का वचन झूठा हो जायगा। और मैं संसार की नज़रों में गिर जाऊँगा। मा, तुम्हारी कोख से जन्म लेकर क्या मैं इतना नीच बन जाऊँ ? और तुम मेरे साथ वन में चलकर क्या करोगी ? मा, पिता तुम्हारे भी गुरु हैं। यदि तुम मेरे साथ चलोगी, तो इस बुढ़ापे में उनकी सँभाल कौन करेगा ? मा, तुम सती-शिरोमणि हो, उनकी सेवा करना तुम्हारा धर्म है। मेरे चले जाने से उन्हें बहुत दुःख होगा। यदि तुम यहाँ रहकर उनकी सेवा-टहल करोगी, तो उन्हें कुछ धीरज तो रहेगा।"

राम की बातें सुन कौशल्याजी जैसे होश में आगईं। उन्होंने राम से कहा—बेटा ! बहुत ठीक कहते हो ? मैं भूल में थी। अब मैं तुम्हें वन जानेसे रोककर तुम्हें धर्म-संकट में न डालूँगी। छाती पर पत्थर रखकर धीरज रक्खूँगी। इन ख़ून के आँसुओं को बरबस पी जाऊँगी। तुम ख़ुशी से वन को जाओ। मेरा आशीर्वाद छाया के समान तुम्हारे साथ रहकर तुम्हारी रक्षा करेगा।" यह कहते-कहते कौशल्याजी के आँसू सूख गए।

इसी समय लक्ष्मणजी भी रोते-रोते वहाँ आ पहुँचे। वे राम के पैरों पर गिर पड़े और बोले—भैया, तुम वन को जा रहे हो, क्या मुझे साथ न ले चलोगे ? मैं क्षण-भर के लिये भी इन चरणों की छाया न छोड़ूँगा। सुख के दिनों में तुम्हारे साथ रहा, तो अब दुःख के दिनों में क्यों साथ छोड़ूँ ? जिनको कभी क्षण-

भर के लिये भी न छोड़ा, उन्हें अब एकदम चौदह बरस के लिये कैसे आँखों की ओट में कर सकूँगा ?" तब रामचंद्रजी ने उन्हें समझाया—"भैया, तुम्हारे साथ चलने से बड़ा अनर्थ हो जायगा। भरत और शत्रुहन यहाँ हैं नहीं। पिता की हालत ख़राब हो ही रही है, यदि तुम भी मेरे साथ चलोगे, तो यहाँ का काम कैसे चलेगा ? इन माताओं की ख़बर कौन लेगा ?" इस तरह रामचंद्रजी ने लक्ष्मण को लाख समझाया, पर उन्होंने एक न सुनी। मचलकर बोले—"यहाँ का काम चले, चाहे न चले, मैं तो आपके साथ ही चलूँगा और फिर चलूँगा।" उनका यह प्रेम देख रामचंद्रजी ने कहा—"अच्छा भैया, तुम नहीं मानते, तो जाओ, माता सुमित्रा से आज्ञा ले आओ। वे आज्ञा दे दें, तो मुझे इनकार नहीं।"

यह सुनते ही लक्ष्मणजी मगन-मन माता के पास पहुँचे और उन्होंने उनसे राम के साथ जाने की आज्ञा माँगी। सुमित्राजी वीर-माता थीं। लक्ष्मण की बातें सुन उनके मुखड़े पर ज़रा भी बल न आया। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"बेटा, तुम्हारी बातों से मैं बड़ी सुखी हुई। तुम ख़ुशी से राम के साथ जाओ। उसके साथ सीता ज़रूर जायगी, क्योंकि वह बड़ी पतिव्रता है। तुम वन को ही अयोध्या, राम को पिता और सीता को माता समझना। मन लगाकर भाई-भौजाई की सेवा करना।" यह कहते-कहते सुमित्रा ने लक्ष्मण को छाती से लगा लिया, और उनके सिर पर प्रेम से हाथ फेरकर

आशीर्वाद दिया। लक्ष्मणजी माता के चरणों में सिर झुका अपना धनुष-बाण सँभाल राम के पास जा पहुँचे। आज उनके हृदय में बड़ी ही प्रसन्नता थी।

माता कौशल्या को समझा-बुझाकर रामचंद्रजी सीताजी के पास पहुँचे। उन्होंने सीताजी को सब हाल सुना दिया। सीता ने बड़े ध्यान से राम की बातें सुनीं। उनके मुखड़े पर वही प्रसन्नता छाई हुई थी। उन्होंने मुसकिराकर कहा—"चलो अच्छा ही हुआ। एक बड़ी बला से पीछा छूटा। मुझे राज्य से क्या लेना-देना? मेरे राजा तो आप हैं, आप ही में मेरा सारा राज्य समाया हुआ है। वन में घूमने-फिरने की रुचि मुझे बचपन से ही रही है। अब मेरी इच्छा ख़ूब पूर्ण होगी। अच्छा, तो अब जल्दी तैयारी कीजिए। अब यहाँ बैठना, और भोजन-पानी लेना भी ठीक नहीं। मैं भी अपनी तैयारी करती हूँ। धर्म पर चलने में देरी करना अच्छा नहीं।"

सीताजी की बातें सुन रामचंद्रजी को कुछ अचरज-सा हुआ। उन्होंने बड़े प्रेम से सीताजी से कहा—'प्रिये! तुम कहती क्या हो? तुम भी वन में चलोगी? क्यों भला तुम्हारा वहाँ क्या काम? पिताजी की आज्ञा कुछ तुम्हारे लिये तो है नहीं। तुम यहीं रहकर माता-पिता की सेवा करना। तुम्हारे यहाँ रहने से उन्हें बड़ा सहारा रहेगा। जब वे मेरी याद कर दुःखी होवें, तब तुम मीठी-मीठी बातें करके उन्हें धीरज दिलाना। धर्म की बातें सुनाना, प्राचीन धर्मा-

त्माओं तथा ऋषि-मुनियों की कथाएँ सुनाना। मेरे भाइयों तथा सब घरवालों से प्रसन्नता का व्यवहार रखना। कभी किसी से कड़ी बात न करना। इस समय यही तुम्हारा बड़ा धर्म है। ये दिन भी न रहेंगे। पिता का वचन पूरा कर मैं तुम से शीघ्र ही आ मिलूँगा।"

सीताजी राम के प्रेम में अपने आपको भूल गई थीं। वे उन्हें ही अपना सब कुछ समझती थीं। पति के मन तथा आत्मा में अपना मन और आत्मा मिलाकर वे एक-रूपता को प्राप्त हो चुकी थीं। उन्हें महारानी बनने का कुछ भी सोच न था। पतिदेव् पिता की आज्ञा का पालन करने जा रहे हैं; इस बात से सीताजी बड़ी प्रसन्न हो रही थीं। उन्होंने इस आपत्ति को आपत्ति ही न समझा। वे इस समय अपना कर्तव्य सोच रही थीं। राम की बातों से उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पतिदेव को जवाब दिया—

"नाथ! आपने मुझे क्या समझ रक्खा है, जो ऐसी बातें कह रहे हैं? आपकी बातों से मुझे हँसी आती है। आप नीतिवान् हैं, पंडित हैं, विद्वान् हैं, वीर हैं। आपको ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं। आप ख़ूब जानते हैं कि पति-पत्नी का संबंध कैसा होता है, फिर भी ऐसी बातें करते हैं! आपका यह उपदेश मुझे मेरे कर्तव्य से दूर हटाता है। माता-पिता, भाई, भौजाई, पुत्र आदि सब अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। परंतु एक स्त्री ही ऐसी है, जो अपने पति के भाग्य को भी

भोगती है ! मैं आपसे अलग नहीं हूँ। जब आपको वनवास की आज्ञा हो चुकी, तो मुझे भी हो चुकी। इस समय छाया के समान आपके साथ वन में जाना ही मेरा मुख्य धर्म है ! पति-पत्नी का सुख-दुःख आपस में इस तरह मिला हुआ है कि लाख चाहने पर भी वह अलग-अलग नहीं हो सकता। पति ही स्त्री का सर्वस्व है—पति का सुख-दुःख ही स्त्री का सुख-दुःख है। पत्नी पति की छाया है। पति का साथ ही पत्नी के लिये राज-पद से बढ़कर है। मैं केवल आपके सुख की ही संगिनी नहीं हूँ, दुःख में भी आपका साथ देना मेरा धर्म है। आप धर्मात्मा होकर भी मुझे धर्म से क्यों दूर करते हैं ?"

रामचंद्रजी किसी तरह सीताजी को साथ नहीं ले जाना चाहते थे। उन्हें डर था कि ये इतनी कोमलांगी होकर वन के वे कठिन कष्ट कैसे सह सकेंगी। उन्होंने बड़े प्रेम से कहा—"प्रिये ! तुमने जो बातें कहीं हैं, मैं उन्हें ख़ूब समझता हूँ। मैं जानता हूँ कि स्त्री स्वामी के दुःख को हर लेती है। पर मेरे मन की पूछो, तो मैं तुम्हारे इस विचार से जितना सुखी हुआ हूँ, उससे कहीं दुःखी हुआ हूँ। यदि तुम हठ करके साथ चलोगी ही, तो तुम्हीं को बड़े-बड़े क्लेश उठाने पड़ेंगे। वन की यात्रा करना सहल नहीं है। तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते हैं। कुश-काँटों के मारे राह चलना कठिन होगा, बड़े-बड़े पहाड़ और नदी-नाले पार करने पड़ेंगे। वहाँ बड़े-बड़े सिंह, बाघ, भेड़िए भयंकर गर्जना करते हुए दिन-रात फिरा करते

हैं, जिसे सुनकर बड़े-बड़े वीरों की छाती दहल जाती है। प्रिये, तुम सुख की गोद में पली हो। दुःख क्या चीज़ है, यह तुमने आज तक जाना नहीं! वहाँ के कठिन-क्लेश सहने योग्य तुम्हारा शरीर नहीं। मेरे जीवन का यह खिला हुआ कमल वहाँ की क्लेश-यातनाओं से कुम्हला जायगा। इसलिये प्रिये, तुम यहीं रहो, माता-पिता की सुख से सेवा करो। दिन जाते देर नहीं लगती। मैं समय पूरा होते ही लौट आऊँगा।"

परंतु सीताजी अपना कर्तव्य निश्चित कर चुकी थी। राम की इन बातों का उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उन्होंने मुस-किराकर उन्हें उत्तर दिया—"नाथ, यदि आप मेरे विषय में ऐसी बातें सोचते हैं, तो यह आपकी भूल है। आपने मुझे अब तक नहीं पहचाना। मैं आपसे कितनी ही बार कह चुकी हूँ, कि मुझे प्राकृतिक दृश्यों के देखने को बड़ी ही रुचि है। मुझे आपके साथ चलने में कुछ भी कष्ट न होगा। स्त्री का जन्म स्वामी के सुख-दुःख में भाग लेने के लिये ही होता है। मैं राह के कुश-काँटे हटाती हुई आपका मार्ग साफ़ करती हुई चलूँगी। कुश-काँटों और जंगली पशुओं से भरा हुआ वह वन ही आपके साथ रहने से मेरे लिये नंदन-वन हो जायगा। वहाँ मुझे स्वर्ग से भी अधिक सुख मिलेगा। और आपके वियोग में यह स्वर्गपुरी मेरे लिये मरघट के समान हो जायगी। ये राज्य-भोग के सामान हलाहल विष हो जायँगे। वहाँ कंद-मूल-फल ही मेरे लिये राज-भोग के समान सुस्वाद हो जायँगे। झरनों

का निर्मल और शीतल जल ही मेरी प्यास बुझाने को सुगंधित शरबतों की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा। कुश की शय्या ही मेरे लिये कोमल बिछौनों के समान आनंददायिनी हो जायगी। उस सिंह-भेड़ियों से-भरे जंगल में ही मैं आपकी सेवा करना चाहती हूँ। मैं चाहती हूँ कि आपके साथ मैं भी उन सरोवरों में स्नान करूँ, जिनके कमलों पर भौंरों की मधुर गुंजार होती हो, और जिन कोमल मृणालों के साथ मतवाले हाथी क्रीड़ा करते हों। आपके साथ मैं भी तपस्विनी का भेष धारण करूँगी, ऋषियों के पवित्र दर्शन करूँगी। उनके पवित्र आश्रमों में विश्रामकर मेरी सारी थकावट दूर हो जायगी, सारे क्लेश जाते रहेंगे। उनके मुख से पवित्र वेद-मंत्रों की ध्वनि सुनकर, उनके अमृतमय उपदेशों का पानकर मैं भी धर्ममय हो जाऊँगी। जब मैं वन में घूमते-घूमते सूर्य की तेज़ किरणों से थक जाऊँगी, तब आपका यह पवित्र चंद्र-मुख देखते ही मेरी सारी थकावट दूर हो जायगी। आपको देखकर ही मैं वन के कष्टों को भूल जाऊँगी। आपके साथ रहने से मैं वन में ही अमरावती के सुख पा जाऊँगी। आप मुझे साथ चलने की आज्ञा दीजिए।"

जब रामचंद्रजी ने देखा कि सीताजी इस तरह न मानेंगी, तब वे बोले—"प्रिये, ये बातें तो ठीक हैं। पर अभी तुमने एक बात का तो विचार ही नहीं किया। वन में बड़े-बड़े भयंकर राक्षस फिरा करते हैं। उनका स्वभाव बड़ा ही दुष्ट होता है। वे किसी को भी सताने से बाज़ नहीं आते। उनका भयंकर

रूप देखकर—उनके उपद्रव देखकर तुम ज़रूर ही डर जाओगी। इसलिये तुम्हारा यहाँ रहना ही अच्छा है।"

सीताजी ने ला परवाही से उत्तर दिया—"मेरे पतिदेव ऐसे-वैसे नहीं हैं। उन्होंने छुटपन ही में बड़े-बड़े बलवान् राक्षसों को मारकर महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की थी। उन्होंने वीरता के प्रण में ही विजय पाकर मुझे प्राप्त किया है। उनके साथ में रहने से निगोड़े राक्षस मेरा क्या बिगाड़ सकेंगे?" सीताजी फिर कहने लगीं—

"प्राननाथ करुनायतन, सुंदर सुखद सुजान।
तुम बिनु रघुकुल-कुमुद-बिधु सुरपुर नरक-समान॥
मात-पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सुजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ! नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहिं तरनि ते ताते॥
तन धन धाम धरनि पुर राजू। पति-विहीन सब सोक-समाजू॥
भोग रोग-सम भूषन भारू। यम-यातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम बिनु जग माँही। मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसहिं नाथ! पुरुष बिनु नारी॥
नाथ! सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-विमल बिधु-वदन निहारे॥

खग मृग परिजन, नगर बन, बलकल बसन दुकूल;
नाथ साथ सुर-सदन सम, पर्नसाल सुख-मूल।
बन-दुख नाथ! कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु-वियोग लवलेश समाना। होहिं न सब मिलि कृपानिधाना॥

मोहिं मगु चलत न होइहि हारी। छिन-छिन चरन-सरोज निहारी॥
सबहिं भाँति प्रिय सेवा करिहौं। मारग-जनित सकल स्रम हरिहौं॥
पायँ पखारि बैठि तरु-छाँहीं। करिहौं बायु मुदित मनमाहीं॥
स्रम-कन-सहित स्याम तनु देखे। कहँ दुख रहहिं प्रानपति पेखे॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पायँ पलोटिहि सब निसि दासी॥
बार-बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताप बयारि न मोही॥
को प्रभु सँग मोहिं चितवनिहारा। सिंह बधुहिं जिमि ससक सियारा॥
मैं सुकुमारि नाथ वन-योगू। तुमहिं उचित तप, मो कहँ भोगू॥
अस जिय जानि सुजान-सिरोमनि। लेइय संग मोहिं छाँड़िय जनि॥"

यह कहते-कहते सीताजी की आँखें डबडबा आईं। उनसे बड़े-बड़े मोती टप-टप करके टपकने लगे। उनकी यह विकलता, उनका यह प्रेम देख रामचंद्रजी का भी हृदय भर आया। अब वे आगे कुछ न कह सके। उन्होंने सीताजी को अपने साथ चलने की आज्ञा दे दी। राम की आज्ञा पाते ही सीता के हृदय का बोझ हलका हो गया। उनका उदास मुखड़ा गुलाब के फूल के समान खिल उठा।

जब माता कौशल्या को यह समाचार मिला, तब तो उनको रही-सही आशा भी जाती रही। उन्होंने सोचा था कि राम के चले जाने पर सीता को ही प्यार करूँगी। उसी को देख-देख-कर दुःख के दिन बिताऊँगी। पर उन्हें क्या मालूम था कि मेरी यह आशा भी मिट्टी में मिल जायगी। वे दौड़ी हुई वहाँ आ पहुँची और रोती-रोती राम से बोलीं—"बेटा, क्या सीता

को भी साथ लेते जाओगे ?" राम ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"मा ! मैं क्या करूँ, मैंने इन्हें बहुत रोका, कितना ही समझाया, पर ये मानती ही नहीं !" राम की बातें सुनते ही कौशल्या ने सीता को छाती से लगा लिया और बोलीं—"बेटी ! तू सच्ची पतिव्रता है। मुझे तुझसे ऐसी ही आशा थी। तू अपना धर्म निभाने जा रही है। मैं तुझे रोककर अधर्म न करूँगी। तू ख़ुशी से राम के साथ जा। पर देख, मेरे लाल को दुःख न होने पावे ! अधिक क्या कहूँ, तू आप समझदार है। मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ कि तेरा सुहाग अचल रहे।"

माता की आज्ञा पा राम-लक्ष्मण तपस्वियों का भेष बनाने लगे। कल तक जिन राम के सिर पर राजमुकुट शोभा देता था, आज उसी सिर पर जटाजूट विराजने लगा। कल तक जिस शरीर पर रेशमी वस्त्र शोभा पाते थे, आज उसी शरीर पर वल्कल-वसन विराजने लगे। आज राम ने सत्य और धर्म की रक्षा के लिये सुख-सामग्री की आहुति दे दी। माता कौशल्या के बहुत कहने-सुनने पर देवी सीता ने रानी का भेष नहीं छोड़ा। राम-लक्ष्मण का वह तपस्वियों-जैसा भेष देख राजमहल में दुःख की आँधी आ गई। वज्र भी पिघलकर पानी हो गया। सब की आँखों से चौधारा आँसू बरसने लगे।

इस प्रकार वन-यात्रा की तैयारी कर तीनो जन राजा दशरथ के पास पहुँचे। राम-लक्ष्मण का वह भेष देख वे मारे प्रेम के अधीर हो गए। और दोनो हाथ फैलाकर उन्हें गोद में लेने

राम लक्ष्मण का तपस्वियों का-सा भेष देख राज-महल में दुःख की आँधी आ गई (पृष्ठ ७०)

को दौड़े। पर शोक ने उन्हें बीच में ही दबा लिया। वे बेहोश हो धड़ाम से धरती पर गिर पड़े। यह देख सभी महिलाएँ हा राम ! हा राम !! कहकर रोने लगीं। तब दोनो भाई धीरज धरकर पिता के पास पहुँचे और बड़ी मुश्किल से उन्हें होश

में ला पाए। रामचंद्रजी ने पिता को प्रणाम किया और कहा— पिताजी, आप हम सबके स्वामी हैं। आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा धर्म है। हमारे साथ सीता और लक्ष्मण भी वन जा रहे हैं, हमने इन्हें बहुत समझाया, पर ये मानते ही नहीं। हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि इन्हें भी हमारे साथ जाने की आज्ञा दीजिए।

इस प्रकार राम, सीता, और लक्ष्मण अपने पिता और माताओं से आज्ञा तथा आशीर्वाद पाकर वन-यात्रा करने को तैयार हुए। इतने में ही सुमंत्र महाशय रथ लेकर आ पहुँचे और बोले—"महाराज की आज्ञा से मैं रथ लाया हूँ। आप लोग इस पर सवार हूजिए। आप जहाँ चलने की आज्ञा देंगे, मैं वहीं रथ ले चलूँगा।"

पहले सीताजी रथ पर सवार हुईं। तब लक्ष्मणजी भी अपने हथियार सँभालकर सवार हो गए। रामचंद्रजी सब से पीछे सवार हुए। उनकी आज्ञा पाते ही सुमंत्र ने चाबुक फटकारा। रामचंद्रजी अब तक धीरज धरे हुए थे। अब उनकी आँखें भी डबडबा आईं। तीनों वनवासी मातृभूमि को प्रणाम-कर चलने लगे। उनके वनवास की ख़बर अयोध्या-भर में फैल गई थी। रास्ते में इतनी भीड़ हो गई थी कि निकलने को भी जगह न मिलती थी। सभी लोग शोक-भरी आँखों से राजकुमारों तथा राजकुमारी को देख रहे थे। जब राम का रथ रवाना हुआ, तब प्रजा की हाहाकार-ध्वनि से सारी अयोध्या

गूज उठी। कोई कैकेयी की बुराई करता था और कोई दशरथ की। पर राम की बड़ाई सभी करते थे, कहते थे—"भाई, कैसे धर्मात्मा बेटे हैं! पिता की आज्ञा मान चौदह वर्ष के लिये वन को जा रहे हैं। इन्होंने राज-पाट की तनिक भी परवा न की!" स्त्रियाँ कहती थीं—"सीता की अभी उमर ही क्या है! पर इसी उमर में यह कैसी पतिव्रता हो गई है! राज-महलों के सुख त्यागकर पति के साथ वन को जा रही है! पतिव्रत इसका नाम है!"

अयोध्या के सभी लोग—क्या बूढ़े और क्या बालक—हा राम! हा राम!! कहते हुए रथ के पीछे दौड़ने लगे। अपने ऊपर प्रजा का यह प्रेम देख राम का हृदय उमड़ आया उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। उनसे प्रजा का यह दुःख न देखा गया। उन्होंने सुमंतजी को और भी ज़ोर से रथ चलाने की आज्ञा दी। अब नगर-निवासी भी ज़ोर-ज़ोर से दौड़ने लगे। पर, जब रथ आँखों को ओट में हो गया, तब बेचारे मन मारकर रह गए। रोते-रोते सब लोग नगर में लौट आए। उस दिन अयोध्या-भर में शोक की काली घटा छाई रही और ख़ूब घुमड़-घुमड़कर बरसी।

चित्रकूट में

धीरे-धीरे शाम हो गई। रथ तमसा नदी के किनारे जा पहुँचा। सब लोग रथ पर से उतर पड़े। इस समय रामचंद्रजी बड़े ही दुःखी थे। माता-पिता का वह स्नेह, नगर-निवासियों का वह प्यार उन्हें रह-रहकर याद आ जाता था। हाय! अब वह स्नेह, वह प्यार कहाँ मिलेगा? लक्ष्मण और सीताजी की भी यही दशा थी। बेचारा सुमंत्र एक ओर उदास खड़ा रामचंद्रजी की आज्ञा की बाट देख रहा था। रामचंद्रजी ने कहा—"भाई! हमारे वनवास की यह पहली रात्रि है। हमारी इच्छा है कि आज यहीं बसेरा किया जाय! और हाँ लक्ष्मण, तुम मेरे भोजन की चिंता न करना। मैं आज उपवास करूँगा। इस वन में कंद-मूल-फलों की कमी नहीं है, तुम अपने भोजन का प्रबंध जल्दी कर लो, नहीं तो रात हो जायगी।"

लक्ष्मणजी वहाँ ठहरने का बंदोबस्त करने लगे। उन्होंने भाई-भौजाई के लिये नरम-नरम पत्ते चुनकर शय्या तैयार कर दी। रामचंद्रजी ने सीता-समेत उसी पर आराम किया। सीताजी ने वन-यात्रा करते समय रामचंद्रजी से कहा था—"नाथ, आपका मुखड़ा देखकर, वन के दुःख ही मुझे सुख हो जायँगे।" उन्होंने पहले दिन ही यह बात सोच कर दिखाई।

कहाँ राजमहलों के सुख और कहाँ वन के कठिन दुःख। जो सीताजी महल में पलँग से नीचे पैर न रखती थीं, जिनके इशारे की राह सैकड़ों बाँदियाँ हाथ बाँधे देखा करती थीं, वे सीताजी आज वन की उस पथरीली भूमि में—पत्तों से बनी हुई शय्या पर आनंद-पूर्वक सो रही थीं! उनका पति-प्रेम कैसा प्रबल था! सच्चा प्रेम सुख-दुःख में एक ही-सा बना रहता है।

सीता और राम तो लेटते ही सो गए, पर लक्ष्मण और सुमंत्र को नींद न आई। राम और सीता के गुणों की चर्चा करते-करते ही उन्होंने रात बिता दी। उस दिन सीता, लक्ष्मण और सुमंत्र ने भी उपवास किया। जब राम ने ही कुछ न खाया तब और कौन खाता?

बड़े तड़के राम की नींद टूटी। सुमंत्र ने रथ तैयार किया। सब लोग सवार हुए। तमसा पार करते ही रथ तेज़ी से आगे बढ़ने लगा। वन की शोभा देखते हुए सब लोग गंगा-किनारे शृंगवेरपुर के पास पहुँचे। गंगा का वह स्वच्छ जल उसकी वह कलकल मधुर ध्वनि देख-सुनकर रामचंद्रजी का मन हरा हो गया। पास ही एक घनी छायावाला इंगुदी का वृक्ष था। रामचंद्रजी ने कहा—"गंगा का सुंदर तट है, यदि आज हम लोग यहीं ठहरें, तो कैसा?" रामचंद्रजी की बात सब को पसंद आई। लक्ष्मण और सुमंत्र वहाँ ठहरने का प्रबंध करने लगे।

उन दिनों शृंगवेरपुर में निषादों का राज्य था। उनका राजा गुह रामचंद्र का बचपन से मित्र था। उसका छोटा-सा राज्य भी दशरथ के विशाल राज्य में था। जब गुह ने रामचंद्र के आने की ख़बर सुनी तब वह मारे प्रेम के अधीर हो उठा और दौड़ा-दौड़ा राम के पास आया। गुह यद्यपि नीच जाति का था, तो भी राम ने मारे प्रेम के उसे छाती से लगा लिया। गुह ने रामचंद्रजी की पहुनई भली भाँति की। उसके प्रेम-भरे आदर-सत्कार से सभी अतिथि बहुत ही संतुष्ट हुए।

भोजन आदि से निपटकर कुछ रात बीतते-बीतते रामचंद्र, सीता और सुमंत्र तो सो गए, पर लक्ष्मण की आँखों में नींद कहाँ? वे थोड़ी ही दूरी पर धनुष-बाण चढ़ा वीरासन जमा-कर बैठ रहे। राजा गुह भी उनके पास जा बैठा। जब कुछ रात और बीत गई, तब गुह ने उनसे कहा—"महाराज, अब आप कब तक जागते रहेंगे? आपके लिये पलँग तैयार है। आप भी कुछ आराम कर लीजिए। मैं और मेरे नौकर कष्ट सहने को तैयार हैं। आप बेखटके सोइए।" लक्ष्मणजी ने उसे जवाब दिया—"मित्र! मेरे हृदय में कैसी आग जल रही है, शायद इसे आप अच्छी तरह नहीं जान सके! ज़रा भाई-भौजाई की ओर तो देखो! जिनको मैं प्राणों के समान समझता हूँ, हृदय में जिनकी पूजा करता हूँ, वे ही आज इस तृण-शय्या पर अनाथ की नाईं पड़े हैं! गुह! जिन्हें सोने के पलंग पर—मख़मली बिछौनों पर नींद नहीं आती

महाराज अब आप कब तक जागते रहेंगे (पृष्ठ ७६)

थी—उनके भाग्य में यह पत्तों का बिछौना भी बदा था ! हाय ! मेरे हृदय में कितना दर्द हो रहा है, तो भी वह नहीं फटता ! फिर आँखों में नींद कहाँ ?" यह कहते-कहते वीरवर लक्ष्मण की आँखों से बड़े-बड़े आँसू टपकने लगे। फिर उन्होंने गुह

को वह सब हाल सुनाया, जिससे रामचंद्रजी वनवासी हुए थे। वह दुःखमय हाल सुनकर गुह भी बिना रोए न रह सका।

चार घड़ी रात रहे रामचंद्रजी जागे और स्नान-संध्या आदि कृत्य करने लगे। तब तक दिन निकल आया! सुमंत्र रथ तैयार करने लगा। पर, रामचंद्रजी ने उससे कहा—"अब रथ की ज़रूरत नहीं है—अब हम पैदल ही यात्रा करेंगे। पिताजी ने तुमको यहीं तक आने की आज्ञा दी थी; अब तुम लौट जाओ। माता-पिता से हमारा प्रणाम कहना, प्रजा से हमारे प्रेम की चर्चा करना!" सुमंत्र ने सोचा था कि मैं भी रामचंद्रजी के साथ वन-यात्रा करके जीवन के बाक़ी दिन बिता दूँगा। जब उसने रामचंद्रजी की आज्ञा सुनी, तब तो उसका गला भर आया, आँखें भर आईं। उसने हाथ जोड़कर उनसे कितनी ही बिनती की कि मुझे भी साथ रख लीजिए, पर रामने उसकी एक न सुनी। तब बेचारा दुःखी होकर अयोध्या की ओर लौटा। जब तक राम उसे दिखे, वह लौट-लौटकर उन्हें देखता जाता था।

गुह ने प्रेमपूर्वक राम से प्रार्थना की—"महाराज, आपको तो वन में रहना है, वन कहीं का हो! अतः आप यहीं रहिए, यहाँ-वहाँ जाने और कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता? मैं यहाँ आपकी सेवा करूँगा, आपको किसी प्रकार का कष्ट न होगा। यह वन भी तो आपका ही है।" राम ने उसे जवाब

दिया—भाई गुह ! यदि मैं यहाँ रहूँगा, तो कुछ दिन में यही वन बस्ती बन जायगा। तब पिता की आज्ञा का पालन कैसे होगा ? अयोध्या यहाँ से दूर नहीं है ! तुमने जो मेरा स्वागत किया है, जो सेवा की है, उसी के लिये मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ। बस, एक नाव बुलवा दो, जिससे हम लोग गंगा पार कर जायँ ! यही तुम्हारा बड़ा उपकार होगा !"

राम के आग्रह ने गुह को लाचार कर दिया। उसने एक अच्छी-सी नाव का बंदोबस्त कर दिया। रामचंद्रजी निषाद-राज से मिल-भेंटकर नाव पर सवार हुए। थोड़ी ही देर में नाव दक्षिण तट पर जा पहुँची। तीनो वनवासी नीचे उतरे और पैदल चलने लगे। जो राजकुमार कभी विना सवारी कहीं न जाते थे, वे आज पाँव-प्यादे वन में जा रहे थे। जो सीताजी कुसुम के समान सुकुमारी थीं, जो सुख की गोद में पली थीं, वे ही आज काँटे और कंकरों से भरी हुई उस वन-भूमि पर प्रसन्न-वदन गमन कर रही थीं ! पलक मारते क्या से क्या हो गया ?

दो दिन बाद तीनो वनवासी तीर्थराज प्रयाग के सामने जा पहुँचे। गंगा-जमुना के मिलने का शब्द सुनाई पड़ने लगा। उन दिनो प्रायग में भारद्वाज नाम के एक बड़े ही तपस्वी महात्मा अपने कितने ही शिष्यों के साथ रहते थे। रामचंद्र ने उनकी बड़ाई सुन रक्खी थी, इसलिये वे पत्नी और भाई के साथ उन्हीं के आश्रम में गए। उस समय भारद्वाजजी शिष्यों के साथ

धर्म-चर्चा कर रहे थे। रामचंद्रजी ने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया। राम का परिचय पाकर महात्माजी प्रसन्न हुए। उन्होंने बड़े ही प्रेम से राम का आदर-सत्कार किया, सब के हाथ-मुँह धुलवाए और खाने को स्वादिष्ट कंद-मूल-फल दिए।

राम के मुँह से सब हाल सुनकर भारद्वाजजी ने उनसे कहा—"यदि आप अपने वनवास का समय यहीं व्यतीत करें, तो इससे हम लोगों को बड़ा आनंद होगा। यहाँ आपको किसी प्रकार का कष्ट न होगा। नगर यहाँ से पास ही है। आप का समाचार सुन यहाँ कितनी ही स्त्रियाँ बेटी सीता से मिलने को आया करेंगी। जिससे सीता का जी तो बहलेगा ही; उन स्त्रियों को भी सीता से नारि-धर्म की कितनी ही बातें मालूम होंगी। यदि सीता यहाँ रहेगी, तो उसके सुंदर गुणों से उन स्त्रियों का बड़ा ही उपकार होगा।" राम ने नम्रता-पूर्वक ऋषिजी को उत्तर दिया—"महाराज, मुझे वन में चार-छः दिन तो रहना ही नहीं है, पूरे चौदह वर्ष बिताने हैं। यदि हम लोग यहाँ रहेंगे, तो अयोध्या में हमारी ख़बर पहुँचते देर न लगेगी। फिर तो यहाँ नित्य ही अवध-वासियों की भीड़ लगी रहेगी, जिससे आपको भी कष्ट होगा और आपके जप-तप में बाधा पड़ने लगेगी। इसलिये आप कृपाकर हमें कोई ऐसा एकांत स्थान बतलाइए, जो यहाँ से दूर हो, और जहाँ का जल-वायु उत्तम हो, तथा जहाँ फल-फूल-वाले वृक्षों की भी अधिकता हो।" तब ऋषिजी ने उनसे

कहा—"अच्छा तो यही था कि आप यहीं रहते, पर यदि आप जाना ही चाहते हैं, तो चित्रकूट जाइए। चित्रकूट यहाँ से ३४ कोस दूर है। बड़ा ही मनोहर स्थान है। उसकी शोभा देखते ही मन लट्टू हो जाता है। वहाँ कितने ही ऋषि-मुनि तप करते हैं, वहाँ आपको सब तरह का सुख मिलेगा।"

राम को मुनिजी की सलाह पसंद आई। उन्होंने पत्नी और भाई-समेत ऋषि को प्रणामकर तथा उनसे आशीर्वाद पा चित्रकूट का रास्ता लिया। रास्ते में जमुनाजी मिलीं। वे बड़ी ही तेज़ी से बह रही थीं। लक्ष्मणजी ने फ़ौरन् एक घन्नाई तैयार की और उसपर सवार हो तीनो वन-वासियों ने नदी पार की। इसके बाद वे लोग बड़े-बड़े घने जंगलों से होकर आगे बढ़ने लगे। राम ने लक्ष्मण से कहा—"देखो भाई! सीताजी को फूल-पत्तों से बड़ा प्रेम है। ये जिस वस्तु की चाह करें, तुम तुरंत वही चीज़ लाकर इनको देना! कहीं ऐसा न हो कि इनकी इच्छा पूरी न हो और इनका मन दुःखी हो।" वन की सुंदर शोभा देखती हुई सीताजी राम के साथ ख़ुशी-ख़ुशी जा रही थीं। वे जिस फूल या पत्ते को पाने की इच्छा करतीं, लक्ष्मणजी उनको तुरंत वही ला देते थे। वे राम से जो बात या वृक्षादि का नाम पूछतीं, राम बड़े ही प्रेम से उन्हें उसका उत्तर देते थे। इसी प्रकार की सैर करते हुए तीनो लोग वाल्मीकिजी के आश्रम में पहुँचे। सबने मुनि को प्रणाम किया। मुनि ने भी उनके स्वागत-सत्कार में कोई बात उठा

नहीं रक्खी। उन्होंने भी राम को चित्रकूट में ही रहने की सलाह दी।

अब फिर वन-यात्रा शुरू हुई। रामचंद्रजी बड़े-बड़े वनों, ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों और गहरी नदियों को पार करते हुए चित्रकूट पहुँचे। इस यात्रा में यद्यपि सीताजी को बड़ा कष्ट हुआ, पर उनके मुखड़े पर दुःख की छाया भी दिखाई न देती थी। उन्होंने अपने आपको पति में ऐसा लीन कर दिया था कि पति के मुखड़े पर दृष्टि पड़ते ही उनका मुखड़ा खिल उठता था। वे सोचती थीं—पति कैसी भी दशा में हो, उसी का साथ पत्नी के लिये मंगलकारी है। पति की सेवा ही स्त्री के लिये स्वर्ग-द्वार की कुंजी है।"

चित्रकूट बड़ा ही मनोहर पर्वत था। वहाँ फल-फूलों की कमी न थी। वहाँ ऐसे-ऐसे वृक्ष थे ऐसी-ऐसी लताएँ थीं जैसी कि सीताजी ने पहले कभी न देखी थीं। कहीं वृक्षों की घनी कुंजे थीं, कहीं तरह-तरह की लताएँ लहलहा रही थीं, कहीं फूल फूल रहे थे, कहीं तालाबों में लाल नीले कमल खिल रहे थे, भौंरों की गुंजार बड़ी ही मधुर मालूम होती थी। उनका फूलों पर मँडराना बड़ा ही भला मालूम होता था। उन दिनों वसंत ऋतु थी। एक तो चित्रकूट वैसे ही हरा-भरा था, दूसरे वसंत ने उसकी शोभा में और चार चाँद लगा दिए थे। टेसू की दूर तक दिखती हुई लाल फूल-माला आग के समान चमक रही थी। कहीं कोयल कूक रही थी, कहीं मोर

बोल रहे थे, वृक्षों की शीतल छाया में हिरनियाँ और उनके छोटे-छोटे बच्चे कलोलें कर रहे थे। कहीं नदियों की कलकल सुन पड़ती थी, कहीं झरने झर रहे थे। उनका जल ऐसा मीठा, ऐसा स्वादिष्ठ था, कि बस पीते ही बनता था! भूमि भी वहाँ की बड़ी सुंदर थी, कहीं बहुत ऊँची, कहीं एकदम नीची, कहीं सपाट मैदान और कहीं बड़ी-बड़ी गुफ़ाएँ! चारो ओर हरियाली ही हरियाली थी। चित्रकूट की वह शोभा देख सभी मुग्ध हो रहे।

चित्रकूट की शोभा देखकर सीताजी को बड़ा ही आनंद हुआ। उनका मुरझाया हुआ मुखड़ा खिल उठा। रास्ते की सारी थकावट जाती रही। चित्रकूट की परम मनोहर शोभा ने उनके राह के सारे क्लेश एकदम हर लिए। वे मारे आनंद के कभी पतिदेव की ओर देखतीं और कभी चित्रकूट की शोभा निरखते-निरखते उसकी प्रशंसा करने लगती थीं। उन्हें प्रसन्न देख राम भी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कुछ दिन तक वहीं ठहरने का निश्चय किया।

राम सीता के आगमन से चित्रकूट में रहनेवाले ऋषि-मुनियों ने बड़ी ही प्रसन्नता प्रकट की और उनका ख़ूब ही स्वागत किया। लक्ष्मणजी ने फ़ौरन् लकड़ियों और पत्तों के मेल से एक सुंदर कुटी बना डाली और सबके बैठने तथा सोने के लिये तीन चबूतरे भी बना दिए, हवन के लिये एक ओर वेदी भी बना दी। लक्ष्मण की कारीगरी देख राम बहुत
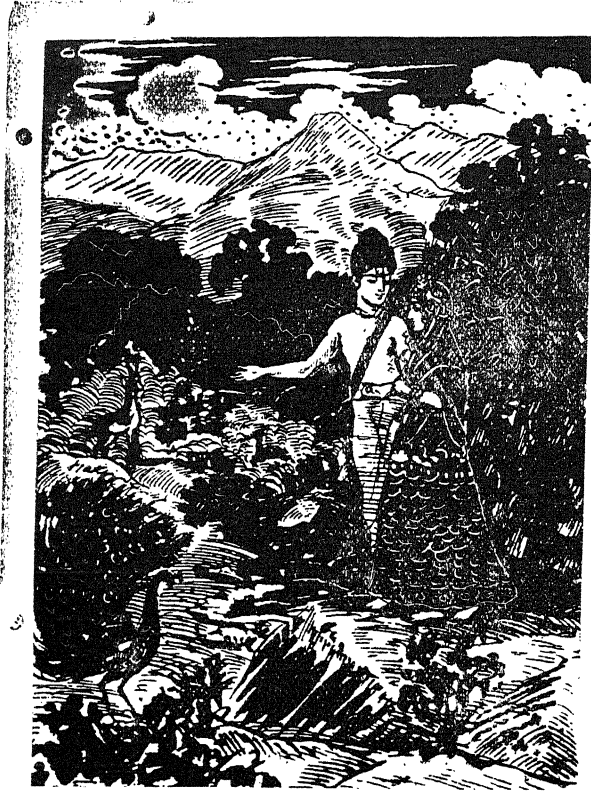
चित्रकूट की शोभा देखकर सीताजी को बड़ा आनंद हुआ। उनका मुरझाया हुआ चेहरा खिल उठा। (पृष्ठ ८३)

प्रसन्न हुए। तीनो वनवासी जंगल के बीच उस मामूली कुटी में आनंद-पूर्वक रहने लगे।

उस कुटी के बीच में सीताजी ने अपने को सबसे भाग्यवान् समझा। वे सोचती थीं—मैं इस कुटी में पति के साथ हूँ, यह मेरे लिये अयोध्या के राजमहल और स्वर्ग के सुखों से भी अधिक आनंददायिनी है। वे पतिदेव के साथ घूम-घूमकर उस वन की शोभा देखती थीं। नित्य इच्छानुसार पति के साथ जातीं, वन की गुफाएँ, वाटिकाएँ और झरने देखतीं और मन बहलाती थीं। उस मनोहर वन में उन्हें पति के साथ से—उनकी सेवा से परम आनंद होता था।

दशरथजी का स्वर्ग-गमन और भरतजी का संन्यास

राम-वन-गमन के समय महाराज दशरथ ने सुमंत्रजी से कह दिया था कि राम को वन दिखलाकर चार दिन में लौटा लाना। और जो कहीं सत्य-वीर राम न लौटें, तो उनसे विनती करना कि हे धर्मवीर, जो आप नहीं लौटते, तो सीताजी को ही लौटा दीजिए। यदि जानकी ही लौट आयगी, तो मेरे प्राणों को सहारा मिल जायगा। यद्यपि सुमंत्रजी ने राजा की आज्ञा का पालन करने की भरसक कोशिश की, परंतु राम के सत्य ने और सीता की पति-हित-चिंता ने महाराज की आशा चूर-चूर कर दी। सुमंत्र महाशय ख़ाली रथ लिए लौट आए। उन्हें ख़ाली हाथ लौटते देख अयोध्या में फिर हाहाकार मच गया। अब सबको निश्चय हो गया कि प्रणवीर राम सचमुच चौदह वर्ष वन में वास करेंगे। बेचारी रानियाँ पछाड़ खाकर गिर पड़ीं। सारे राजमहल में कुहराम मच गया।

महाराज दशरथ का उसी दिन से बुरा हाल हो रहा था। रानियाँ अपना रंज रोक उन्हें प्रेम से कितना ही समझाती थीं, विद्वान्, पंडित और मंत्री नीति की कितनी ही बातें सुनाकर उन्हें कितना ही समझाते थे, पर उनके चित्त को चैन न पड़ती

थी। आज शोकाकुल मंत्री सुमंत्र को सामने अकेले ही देख महाराज का शोक सौगुना बढ़ गया। उनकी आशा-लता सूख गई। संताप की आग यहाँ तक भड़की कि महाराज पागलों के समान छटपटाने और विलाप करने लगे। उन्होंने रोती हुई रानियों से कहा—"अब प्यारे राम का वियोग नहीं सहा जाता। अब मेरा जीना मुश्किल है। मृत्यु के साथ ही मेरे इस असह-नीय कष्ट का अंत होगा।" माता कौशल्या को भी उस समय कुछ कम दुःख न था, तो भी वे धीरज धरकर महाराज को समझाने लगीं। पर महारानी की शीतल वाक्य-धारा महाराज की उस प्रचंड शोकाग्नि के एक अंश को भी, पल-भर के लिये भी, शांत न कर सकी! "हा राम! हा राम!" कहते हुए 'राम-वनवास' के छठे दिन महाराज के प्राण-पखेरू उड़ गए।

बात-की-बात में महाराज के देहांत की ख़बर नगर-भर में फैल गई! दुःख-पर-दुःख, सारी अयोध्या में दुःख की मानो बढ़िया ही आ गई। सभी उदास और बेचैन थे! महलों में पुत्र-वियोगिनी माताएँ अब पति-वियोग के कारण सिर धुन रही थीं। बेचारे मंत्री माथा पकड़े बैठे थे। इस दुःखमय समय में उनकी भी मति मारी गई थी। उन्हें सूझता ही न था कि क्या करें और क्या न करें! राम और लक्ष्मण वन को चले गए थे, भरत और शत्रुघ्न मामा के यहाँ थे। महाराज की दाह-क्रिया करने के लिये राजधानी में कोई न था! वह दिन अयोध्या के लिये कैसे दुःख का दिन था?

परंतु गुरु महाराज वशिष्ठजी ने शांति से काम लिया। उन्होंने विलखती हुई रानियों को दिलासा देकर महाराज का शव तेल से भरे हुए कड़ाह में रखवाया और फिर भरत-शत्रुघ्न को बुला लाने ले लिये फ़ौरन् कैकय-देश को दूत भेजा। दूत ने दोनो भाइयों को अयोध्या का कुछ हाल न बतलाया! भरतजी घबरा गए। बार-बार मन में सोचते थे—बात क्या है' दूत इतना घबराया हुआ क्यों है ? वे उससे बार-बार पूछते थे—"भाई, तुम उदास क्यों हो ? अयोध्या में कुशल तो है ? मेरे बार-बार पूछने पर भी तुम ठीक-ठीक उत्तर क्यों नहीं देते ?" पर दूत उनसे यही कहता था—"महाराज ! इतने न घबराइए ! गुरुजी ने आपको फ़ौरन् बुलाया है !"

धीरे-धीरे भरतजी का रथ अयोध्या में आ गया ! वह शोभा-श्री-विहीन नगरी देख उनका माथा ठनका ! भरतजी घबराए हुए महल में पहुँचे। उन्हें देखते ही महल में कुहराम मच उठा। सभी महाराज और राम का नाम ले-लेकर विलाप करने लगे। क्या घटना घटी है, यह जानने में भरतजी को देर न लगी। वे क्रोध से काँपते हुए माता कैकेयी के पास पहुँचे और उनसे पूछने लगे—"माता, यह सब क्या देख-सुन रहा हूँ ?" उन्हें देखते ही कैकेयी की आँखें भर आईं। उन्होंने बहुत दिन के बिछुड़े हुए पुत्र को गोद में ले लिया। प्रेम से उसका माथा सूंघा और कहने लगीं—"बेटा, यह सब मैंने तुम्हारे भले के लिये ही किया है। अब तुम अयोध्या के महाराज हो। सब हाल

सुनकर भरत और शत्रुघ्न भी फूट-फूटकर रोने लगे। भरत ने माता से कहा—"तुम मेरी माता हो, तुम्हारी ही कृपा से मेरा यह शरीर बना है। तुमसे अब क्या कहूँ। पर तुमने यह किया बहुत बुरा ! मा, तुमने मा होकर भी पुत्र का हृदय अब तक न परखा ! राम मेरे पिता तुल्य हैं ! अहा ! वे मुझे कितना चाहते हैं। मेरे लिये वे राज्य तो क्या प्राण भी दे सकते हैं ! ऐसे प्यारे भाई के रहते मैं कैसे राजा बन सकता हूँ ! मा, तुमने मुझे कहीं मुँह दिखाने के योग्य भी न रक्खा ! सभी यही समझेंगे कि भरत के राज्य-लोभ ने ही ये अनर्थ किए हैं ! लोग मुझे देखकर मन में क्या कहेंगे। रास्ते में दूत भी मुझसे सीधे बात न करता था ! हाय ! मैं विना ही मौत मर गया ! अब प्यारे पिता कहाँ मिलेंगे, बड़े भैया के दर्शन अब कब होंगे !"

भरत की बातें सुन माता कौशल्या भी वहाँ आ गईं ! उन्हें देखते ही भरत ढाढ़ मारकर उनके चरणों में जा गिरे और सौ-सौ शपथें खाकर कहने लगे—मा, मैं बिलकुल निरपराध हूँ ! अयोध्या में क्या हो रहा है, इसकी मुझे ख़बर भी नहीं मिली। मैं बड़े भैया को कितनी भक्ति से चाहता हूँ, यह मैं ही जानता हूँ। उनके रहते मैं राज्य क्या स्वर्ग भी नहीं चाहता। मैं शीघ्र ही उन्हें लौटा लाऊँगा। उन्हें राजा बनाऊँगा और उनके चरणों की सेवा कर अपना जन्म सुधारूँगा।" कौशल्या ने मारे प्रेम के उन्हें छाती से लगा लिया और उनका मुँह चूमा।

महाराज वशिष्ठजी मंत्रियों को साथ लिए हुए महल में आए। उन्होंने भरतजी को समझाया और पिता की दाह-क्रिया करने की आज्ञा दी। उन्होंने रोते-रोते महाराज की अंत्येष्टि-क्रिया कर तो दी, पर उनका दुःख तनिक भी न घटा। न उन्हें रात को नींद आती थी, न दिन को भोजन रुचता था। रात-दिन पिता और भाई के लिये रोते रहते थे। पुत्र की यह दशा देख महारानी कैकेयी भी अपनी भूल पर पछताने लगीं। अब उन्हें मालूम हुआ कि दुष्टा दासी के बहकाने से मैं कैसा खोटा काम कर बैठी हूँ।

गुरु महाराज ने भरतजी को राजतिलक कराने के लिये कितना ही समझया, पर वे किसी तरह राज़ी न हुए। उन्होंने गुरुजी से यही कहा—"जिस धर्म के पालन के लिये बड़े भैया राज-पाट छोड़कर राह के भिखारी हो गए, जिस धर्म के लिये पूज्य पिताजी ने प्राणों का भी मोह त्याग दिया, उस धर्म को त्यागकर मैं क्यों पापी बनूँ? थोड़े-से राज्य के लिये मैं क्यों अपना धर्म छोड़ दूँ? मैं भी तो महाराज दशरथ का पुत्र और राम का भाई हूँ। अब तो मैं वन में जाऊँगा, राम को जैसे बने बुला लाऊँगा, उन्हें राजा बनाऊँगा और तब आनंद से उनकी सेवा करूँगा। अब तो मेरे लिये पिता के स्थान पर वे ही हैं।"

भरत जी को विश्वास था कि बड़े भैया मेरे कारण ही वन को गए हैं। यदि मैं उन्हें लौटाने को जाऊँगा, तो वे अवश्य

लौट आवेंगे। बस, एक दिन उन्होंने मुनियों-जैसा भेष बनाया और नंगे सिर, नंगे पैर वन की ओर चल दिए। उनके साथ कितने ही नगर-निवासी भी हो लिए। महाराज वशिष्ठजी भी महारानियों, मंत्रियों और बहुत-सी सोना लेकर भरतजी के साथ चले। इस प्रकार भरतजी के साथ बेहिसाब आदमी हो गए। धीरे-धीरे सब लोग चित्रकूट में पहुँचे। वह भारी भीड़-भाड़ देखकर वन के पशु-पक्षी जहाँ-तहाँ भागने लगे। आकाश गर्द से भर गया। चारो ओर धूम मच गई। यह देख राम ने लक्ष्मण से कहा—"देखो तो, इस वन में इतनी धूम से कौन आ रहा है?" लक्ष्मणजी एक वृक्ष पर चढ़कर देखने लगे। वे थोड़ी ही देर में नीचे उतर आए और राम से कहने लगे—"और कौन आएगा, हमारे प्राणों के ग्राहक भरतजी ही सेना-समेत आ रहे हैं। जान पड़ता है, राज्य पाकर भी वे संतुष्ट नहीं हुए। अच्छा है, आज या तो वे ही पृथ्वी में रहेंगे या हमीं।" इतना कहते-कहते लक्ष्मण क्रोध से काँपने लगे। उन्होंने अपना धनुष-बाण सँभाल लिया। तब राम ने उनसे कहा—"भाई, इतने क्रोधित न हो! भरत हमारा ही भाई तो है। वह इतना नीच नहीं हो सकता। ज़रा उसे यहाँ तक आने तो दो। उसकी बातें सुन लो। फिर अपना कर्तव्य निश्चित करना।"

अभी यहाँ ये बातें हो ही रही थीं कि भरतजी आ पहुँचे और राम के पैरों पर गिर धाड़ें मार-मार रोने लगे। उन्हें

दुःखी देख सीता और लक्ष्मण की भी आँखें भर आईं। राम ने भरत को उठाकर छाती से लगा लिया और उनसे अयोध्या की कुशल-क्षेम पूछने लगे। दशरथजी के स्वर्गवास की बात सुनते ही राम, लक्ष्मण, सीता और भरत सभी बिलख-बिलखकर विलाप करने लगे। इतने में गुरु महाराज भी महा-रानियों के साथ वहाँ आ पहुँचे। राम-लक्ष्मण ने गुरु और माताओं के चरण छुए। उस समय सीताजी की दशा बहुत दयनीय हो रही थी। वन के क्लेशों ने उन्हें दुर्बल कर दिया था, उनका मुखड़ा मलीन हो गया था। अपनी राजदुलारी बधू की वह दशा देख माता कौशल्या का हृदय भर आया। ज्यों ही सीताजी ने उनके चरण छूना चाहे, त्यों ही उन्होंने उनको गोद में ले लिया।

जब सब लोग मिल चुके और शोक का वेग कुछ कम हुआ, तब भरतजी ने हाथ जोड़कर रामचंद्रजी से विनती की—"भैया, अब आप अयोध्या लौट चलिए। आपके बिना अयोध्या सूनी हो रही है। आपके और पिताजी के वियोग से सभी लोग दुःखी हो रहे हैं। आपके लौट चलने से ही हम लोगों का यह दुःख-भार हलका होगा। मेरी माता के अपराध को भूल जाइए। वह अपनी करनी पर आप ही पछता रही है। राज्य के स्वामी आप ही हैं। मैं किस मुँह से राजा बन सकता हूँ।" वहाँ जितने लोग बैठे थे, सभी ने भरत की हाँ में हाँ मिलाई। तब रामचंद्रजी ने कहा—"भरत, इतने कातर मत होओ।

कैकेयी हम लोगों की भी तो माता हैं। उन पर हम क्यों रुष्ट होंगे? बात यह है कि पिताजी ने जिस सत्य-धर्म के पालन में प्राण तक त्याग दिए, उसके पालन में हम लोगों को थोड़े-से कष्ट से ही इस तरह न घबराना चाहिए। मैं पिता की आज्ञा का पूर्णतया पालन किए बिना कैसे लौट सकता हूँ?"

भरत ने उनसे कितना ही आग्रह किया, सभी ने उन्हें कितना ही समझाया, पर वे अपनी बात के धनी थे, ज़रा भी न डिगे। तब भरतजी ने उनसे फिर विनती की—"अच्छा आपकी बात ही रहे, पर कृपा करके अपनी खड़ाऊँ ही दे दीजिए। मैं उन्हें ही सिंहासन पर पधराकर आपकी ओर से राज-काज चलाऊँगा।" सबके कहने से रामचंद्रजी ने भरत की यह बात मान ली, और उन्हें अपनी खड़ाऊँ दे दीं। खड़ाऊँ लेकर भरतजी रोते-रोते विदा हुए। राम, लक्ष्मण और सीता ने, गुरुजी, माताओं और वृद्धजनों को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।

अयोध्या में लौटकर भरत ने राम की खड़ाऊँ सिंहासन पर पधराईं और आप तपस्वी के भेष में नगर के बाहर नंदिग्राम में रहते हुए राम के लौटने के दिन गिनने लगे। उस दिन से भरत ने राम के लौटने तक अयोध्या में पाँव नहीं दिए। वे वहीं रहकर मंत्रियों की सलाह से राज-काज चलाते थे। शत्रुघ्न इस काम में उन्हें पूरी-पूरी सहायता देते थे।

सीता और अनुसूया

जो चित्रकूट कल तक इन वनवासियों को बड़ा ही आनंद-दायक हो रहा था, वही अब उन्हें बड़ा दुःख-दायक हो उठा। भरत के साथ की भीड़-भाड़ से चित्रकूट की वह शोभा न रही। हरी-हरी लहलही दूब कुचल गई, लताएँ टूट गईं। महाराज दशरथ के देहांत की ख़बर ने उन महात्माओं के हृदय को कुचल दिया। उन्हें ज्यों-ज्यों महाराज के उस पवित्र प्रेम की याद आती थी, त्यों-त्यों उनका दुःख दूना होता जाता था। अब उन लोगों का मन एक घड़ी के लिये भी वहाँ न लगता था। एक दिन श्रीरामचंद्रजी ने कहा—"भाई, अब तो यहाँ ठहरने का जी नहीं चाहता; हाय! इसी स्थान पर हमें प्यारे पिता के देहांत की अप्रिय ख़बर सुननी पड़ी। सब माताएँ कैसी दुखित थीं, भरत कैसा बिलख-बिलखकर रोता था। हमारे यहाँ रहने का समाचार अयोध्यावासियों को मालूम हो गया है। रोज़-रोज़ बहुत-से आदमी हमसे मिलने को आएँगे, वे दिक़ होंगे और हमें दिक़ करेंगे। ऋषियों के भजन-पूजन में विघ्न होगा। इसलिये अब तो इस स्थान को छोड़ देने में ही सार है।"

श्रीराम का यह विचार सीता और लक्ष्मण को बहुत पसंद आया। सीताजी ने उनसे कहा—"नाथ, आप बहुत ठीक कहते

हैं। जहाँ आपका जी लगे, वहीं चालिए। हमें तो आपकी प्रसन्नता में ही प्रसन्नता है। आप प्रसन्न रहें—हमें इसके सिवा और कुछ न चाहिए। यदि आप अन्यत्र चलेंगे, तो मुझे भी अनेक ऋषियों के आश्रमों तथा वन-पर्वतों के दर्शन मिल जायँगे।"

सलाह पक्की हो गई। दूसरे ही दिन ये लोग सब ऋषि-मुनियों से मिल-भेंटकर चल पड़े। रास्ते में पहाड़ों और खेतों की मनोहारी शोभा देखते हुए वे महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुँचे। अत्रिजी बहुत बूढ़े हो गए थे। धर्म की चिंतना और तपस्या में ही उन्होंने अपने दिन बिताए थे। वे पहले ही राम-वनगमन की ख़बर सुन चुके थे। इनके आने से ऋषिजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तीनो यात्रियों का ख़ूब आदर-सत्कार किया। खाने को कंद-मूल फल-दिए, पीने को शीतल जल दिया।

ऋषिजो की धर्मपत्नी भी, जिनका नाम अनुसूया था, बहुत बूढ़ी हो गई थीं। वे भी बड़ी पतिव्रता थीं। ख़ूब पढ़ी-लिखी थीं। धर्म-शास्त्रों का मर्म उन्हें अच्छी तरह मालूम था। वे हमेशा पति के साथ रहतीं और बड़ी लगन से उनकी सेवा करती थीं। सीताजी ने बड़ी ही भक्ति से अनुसूयाजी को प्रणाम किया। अनुसूयाजी सीताजी का शील-स्वभाव, उनकी पति-भक्ति और उनका धार्मिक ज्ञान देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। वे अच्छी तरह जानती थीं कि सीताजी कैसी पतिव्रता हैं, इतनी थोड़ी उमर में ही उन्होंने किस लगन से पति की सेवा की है। तो भी उन्होंने प्रेम-वश सीताजी को नारी-धर्म का अनूठा

उपदेश दिया। बूढ़ों का स्वभाव ही ऐसा कोमल होता है कि वे अपने से छोटों को विना उपदेश दिए नहीं रह सकते। महात्मा तुलसीदासजी ने अनुसूया के उस उपदेश को बड़े ही मनोहर पद्यों में लिखा है—

"मातु पिता भ्राता हितकारी। मित सुख-प्रद सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भरता वैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद्-काल परखिए चारी॥
वृद्ध रोग-बश जड़ धन-हीना। अंध बधिर क्रोधी अति-दीना॥
ऐसेहु पतिकर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना॥
एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति-पद-प्रेमा॥
विनु श्रम नारि परम-गति लहई। पतिव्रत-धर्म छाँड़ि छल गहई॥

"हे सीता, तुम्हारा पति-प्रेम देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई। तुम राज-पाट और घर-द्वार का वह सुख छोड़कर पति के साथ छाया की तरह चल रही हो, वन-पर्वतों के ये न सहने योग्य कष्ट प्रसन्नता-पूर्वक सह रही हो, स्वयं कष्ट सहकर पति के कष्ट हरती हो, यह देखकर बेटी, किसे आनंद न होगा? कौन तुम्हारे पतिव्रत की प्रशंसा न करेगा? पति चाहे वन में हो, चाहे घर में, वह चाहे अच्छा हो, चाहे बुरा, प्रसन्नता-पूर्वक उसकी सेवा करना ही नारी का धर्म है। जो स्त्री सब तरह से सभी दशाओं में पति पर सच्चा प्रेम करती है, वही सच्ची पतिव्रता है, वही बड़भागिनि स्त्री है। ईश्वर हमेशा उस पर अपनी दया की वर्षा करते हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ

पुण्यात्माजनों के लोक में वास करती हैं। हे बेटी, तुम सब तरह से पति के अनुकूल रहकर सच्ची पतिव्रता बनो। ऐसा करने से तुम्हें धर्म और यश की प्राप्ति होगी। पातिव्रत के पुण्य-बल से सदा तुम्हारा कल्याण होगा, और ये दुःख के दिन भी सहज ही बीत जायँगे। आगे आनेवाली संतान सम्मान से तुम्हारा नाम लेगी और नारियाँ तुम्हारा अनुकरण कर देवियाँ बन जायँगी।"

सीताजी सच्ची पतिव्रता थीं। वे पातिव्रत-धर्म की महिमा भलीभाँति जानती थीं। उनके माता-पिता ने उनको बचपन में ही पातिव्रत की महिमा का भेद भलीभाँति समझा दिया था। यह उनकी उस बचपन की शिक्षा का ही प्रभाव था कि सीताजी इस प्रकार आनंद-पूर्वक आपत्ति में तन-मन से पति का साथ दे रही थीं। अब उन्हें पतिव्रत के संबंध की कोई बात जानने को शेष न रह गई थी। अनुसूयाजी का उपदेश यद्यपि उनके लिये व्यर्थ था, तो भी उन्होंने बड़े प्रेम से बूढ़ी माता की बातें सुनीं।

जब अनुसूयाजी चुप हो रहीं, तब सीताजी ने उन्हें बड़ी भक्ति से प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"माता, आपने जो उपदेश मुझे दिया, वह बहुत ही उत्तम है। देवी, मैं भली भाँति जानती हूँ कि पति कैसा ही दुश्चरित्र, दुःखी, दीन और निर्दयी क्यों न हो, तो भी नारी को सच्चे प्रेम से उसकी सेवा करनी चाहिए; क्योंकि नारी के लिये पति ही परमेश्वर

है। फिर जिस स्त्री का पति सुंदर, धर्मात्मा, वीर, दयालु, प्रेमी आदि गुण-युक्त हो उसका तो कहना ही क्या ? मेरे माता-पिता ने बचपन से ही मेरे मन में यह बात जमा दी है कि पति की निश्छल सेवा करना ही स्त्री के लिये सौ तपस्याओं से बढ़कर है। जब मैं वन को चल रही थी, तब माता कौशल्या ने भी यही उपदेश दिया था, और आज आप दे रही हैं। मैं आपके उपदेश से तिल-भर भी विचलित न होऊँगी। माता, ऐसा आशीर्वाद दो कि मेरी पति-तपस्या दिन-दिन बढ़ती जाय।"

सीताजी के मुख से ऐसी बातें सुनकर ऋषि-पत्नी बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने सीता को प्रेम से पुलकित होकर कितने ही आशीर्वाद दिए। फिर उन्होंने सीताजी को कितने ही वस्त्र, कितने ही आभूषण और अंगराग उपहार में दिए। वे उपहार पाकर सीताजी मन में बहुत सुखी हुईं। उन्होंने अनुसूयाजी को प्रणामकर वे वस्तुएँ ले लीं। इसके बाद तरह-तरह की बातें होने लगीं। सीताजी ने ऋषि-पत्नी को अपने विवाह का सब हाल सुना दिया। ससुराल की बातें चलीं। सीताजी ने अपने सास-ससुर की बड़ी बड़ाई की। महाराज दशरथ के गुण गाते-गाते उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। निदान सीताजी ने अपने व्यवहार से ऋषि-पत्नी को भली भाँति संतुष्ट कर दिया।

अनुसूयाजी के उपहार धारण करने से सीताजी की शोभा बहुत ही बढ़ गई। उन्होंने राम और लक्ष्मण को अनुसूया के प्रेम-मय व्यवहार का सब हाल सुना दिया। अनुसूयाजी की

वह कृपा और सीताजी का वह आदर-सत्कार देख दोनो भाई भी बहुत प्रसन्न हुए और बार-बार ऋषि-दंपति की प्रशंसा करने लगे।

पंचवटी में

सीताजी को अब तक वन के कष्टों का कुछ अनुभव ही न हुआ था। उनको वन में चारो ओर आनंद-ही-आनंद दिखता था। रास्ता चलने से जो थोड़ा-सा कष्ट होता था, वह पति का सुंदर मुखड़ा देखते ही भूल जाती थीं। नए-नए वनों की सैर करने की लालसा बढ़ती ही जाती थी। श्रीराम भी उनकी इच्छा पूरी करने की चेष्टा में लीन रहते थे। अत्रि ऋषि के आश्रम से बिदा लेकर उन्होंने दंडक वन में प्रवेश किया। वह वन बड़ा ही भयंकर था। उसकी शोभा ही निराली थी। मार्ग बड़ा ही पथरीला और ऊबड़-खाबड़ था। वृक्षावली इतनी सघन थी कि दिन को भी वहाँ अंधकार-सा छाया रहता था। कहीं पक्षी सुरीला गान करते थे, तो कहीं सिंह, व्याघ्र और हाथी चिंघाड़ते थे। कहीं ऋषियों के पवित्र आश्रम थे, तो कहीं दल-के-दल राक्षस घूमते फिरते थे। परंतु सीताजी निडर थीं; उन्हें अपने पति और देवर के बाहुबल का पूरा भरोसा था। वे मुदित मन वन की वह शोभा देखती हुई जा रही थीं।

एक दिन की बात है, तीनो वनवासी आनंद से जा रहे थे कि एक भयंकर गर्जना सुन ठिठककर रह गए। वह आवाज़ इतनी डरावनी थी कि थोड़ी देर के लिये सभी दहल गए। अभी ये लोग कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें एक राक्षस आता

हुआ दिखा। उसका नाम विराध था। उसका रूप बड़ा ही डरावना था, उसकी चाल हवा के समान तेज़ थी। जब वह चलता था, तब उसके झोंके से पत्थर उड़ने लगते और बड़े-बड़े वृक्ष उखड़ जाते थे। जीव जंतुओं की तो कुछ पूछो ही नहीं, उसे देखते ही जहाँ जिसका सींग समाता, भाग निकलते थे। उसका वह डरावना रूप देखते ही सीताजी डर गईं। इतने में ही विराध ने झपट्टा मारा और वह दोनो भाइयों के बीच में से सीताजी को ले भागा। अब तो सीताजी बहुत ही घबरा गईं। परंतु शीघ्र ही उन्होंने अपने को सँभाल लिया। उन्होंने सोचा, मेरे पति और देवर पूरे बली हैं। उनके रहते यह निगोड़ा राक्षस मेरा कर ही क्या सकता है। मैं नाहक़ ही डर गई। सीताजी की यह दशा देख रामचंद्रजी को बड़ा ही दुःख हुआ। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"भाई, सच मानो, राज-पाट छोड़ते और वन आते समय मुझे ज़रा भी दुःख न हुआ था। पर आज सीता की यह दशा देख मुझ पर क्या बीत रही है, वह मैं तुम्हें कैसे बताऊँ।" यह सुन लक्ष्मण ने उन्हें जवाब दिया—"भैया, आप इतना क्यों घबराते हैं। हम क्षत्रिय वीर हैं। हमारे सामने जो दुष्ट ऐसा घोर पाप करेगा, वह अपने किए को पहुँचेगा। ज़रा देखिए तो, अभी इस पापी की क्या दशा होती है।" यह कहकर लक्ष्मणजी ने विराध पर अपने पैने तीर छोड़ना शुरू कर दिए रामचंद्रजी ने भी उनका साथ दिया। विराध ने भी जी छोड़कर उनसे युद्ध किया, पर उसकी

एक न चली। उसे पाप की सज़ा मिल गई। विराध मारा गया। सीताजी की सारी व्याकुलता दूर हो गई। इस घटना से भी वे बिलकुल विचलित न हुईं। बात यह थी कि वे पति के साथ कठिन-से-कठिन दुःख सहने को तैयार रहती थीं। इस घटना से उन्होंने अपना हृदय और भी दृढ़ कर लिया। आपत्तियाँ सहने के लिये वे पहले से भी दृढ़ हो गईं।

यहाँ से चलकर श्रीराम शरभंग ऋषि के आश्रम में पहुँचे। ऋषिजी बहुत बूढ़े हो गए थे, तो भी उन्होंने अपने अतिथियों का भली भाँति आदर-सत्कार किया। श्रीराम ने ऋषिजी से अपने निवास योग्य कोई सुंदर स्थान पूछा। ऋषिजी ने उन्हें सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम में जाने की सम्मति दी। अभी श्रीराम वहाँ से आगे जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि महात्मा शर-भंग का स्वर्ग-वास हो गया, मानो वे श्रीराम का दर्शन करने के लिये ही रुके हुए थे। ऋषिजी के स्वर्ग-वास का समाचार पाते ही वहाँ आस-पास के कितने ही ऋषि-मुनि आ पहुँचे। सबने मिल-जुलकर ऋषिजी की दाह-क्रिया की। जब राम-चंद्रजी वहाँ से चलने लगे, तब ऋषियों ने उनसे कहा—"महा-राज, आप तो चले, अब हमारी रक्षा कौन करेगा? राक्षसों के मारे हमारी नाकों दम है। उनके मारे न तो हम भजन-पूजन ही कर पाते हैं, न सुख से हमारे दिन ही बीतते हैं। रोज़ एक-न-एक टंटा-बखेड़ा लगा रहता है। राक्षसों के उपद्रव से कितने ऋषि मारे जा चुके हैं। आप हमारे राजा हैं, हमारे भाग्य से

यहाँ आ पहुँचे हैं। अब हमारी रक्षा कीजिए। राजा का धर्म प्रजा का पालन करना ही तो है।" यह सुन श्रीराम ने उन्हें जवाब दिया—"यद्यपि मैं इस समय पिता की आज्ञा पालने के लिये वन में आया हूँ, तो भी मैं अब आप लोगों के अधीन हूँ। इस वन में मेरा कौन बैठा है, आप ही लोगों का तो मुझे सहारा है। फिर आप लोगों ने मेरा जो आदर-सत्कार किया है, उससे मैं आपका ऋणी भी हो गया हूँ। अतः आप लोगों की सेवा करना मेरा धर्म है। आपके धर्म-मार्ग में बाधा डालनेवाले इन राक्षसों को मैं ज़रूर ठीक करूँगा। मेरे साथ मेरे महावीर भाई लक्ष्मण हैं ही, इनसे भी मुझे इस काम में सहायता मिलेगी। अभी तो मैं रहने के लिये किसी अच्छे स्थान की खोज में हूँ। ज़रा मेरे रहने-सहने का ठीक-ठाक हो जाय, तो फिर राक्षसों की तरफ़ ध्यान दूँ।"

सीताजी राम की केवल अंध-भक्त ही नहीं थीं, बरन् वे अपना अधिकार भी भली भाँति जानती थीं और समय-समय पर उसका उपयोग भी करती थीं। वे रामजी की साधारण पत्नी नहीं थीं; बरन् उनकी सच्ची सहधर्मिणी और जीवन-संगिनी थीं। उनकी मनोकामना यही रहती थी कि स्वामी का जीवन पूर्णतया उन्नत हो। शारीरिक और मानसिक उन्नति की अपेक्षा वे आत्मिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देती थीं। जिस काम से स्वामी के धर्म में बाधा पहुँचने की उन्हें शंका हो जाती थी उससे उन्हें दूर ही रखने की

वे भरसक चेष्टा करती थीं। यद्यपि सीताजी को विश्वास था कि पतिदेव मुझसे कहीं अधिक धर्मज्ञ हैं, और वे सदा उनकी धर्मज्ञता तथा विद्या-बुद्धि की प्रशंसा भी करती थीं, तो भी जब कभी वे श्रीराम को कर्तव्य-विमुख देखतीं, तब बिनती करके मीठी-मीठी बातों से उन्हें कर्तव्य-पालन की ओर ले आती थीं। श्रीराम भी उनकी बातों का आदर करते थे। वे सीताजी की बातें बड़े ध्यान से सुनने और मानने योग्य बात प्रेम से मानते, तथा उनका संदेह दूर कर देते थे। अस्तु! जब से सीताजी ने श्रीराम की राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा सुनी थी, तभी से उनके मन में तरह-तरह की चिंताएँ हो रही थीं। अंत में उनका चित्त चंचल हो उठा और वे मन की चिंता मन ही में न रख सकीं। एक दिन उन्होंने पतिदेव से कहा—"नाथ, जब से मैंने आपकी राक्षसों को मारनेवाली प्रतिज्ञा सुनी है, तबसे मुझे बड़ी चिंता हो रही है। मैं सोचा करती हूँ कि न-जाने इसका फल हमारे लिये कैसा होगा। धर्म की गति बड़ी ही सूक्ष्म है, तो भी आप इतना ज़रूर मानेंगे कि जीव-हिंसा बुरी चीज़ है। पहले तो आप में जीव-हिंसा की प्रवृत्ति नहीं थी, पर जब से आप इस वन में आए हैं, आप में यह प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ रही है। राक्षसों ने आपका कुछ बिगाड़ा नहीं, फिर भी आप विना वैर के ही उन्हें मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। इस वन में हम लोगों का आना ठीक नहीं हुआ। आपकी माता ने आपको आज्ञा दी थी कि वन में मुनि-वेष से रहना,

सो आपने यह तो किया नहीं; कहाँ मुनियों का वेष और कहाँ हथियार बाँधना ? यहाँ तो आप मुनि-वेष में रहने के लिये आए हैं, फिर यहाँ हथियारों का क्या काम ? आप दोनो भाई पूरे क्षत्रिय बन रहे हैं, और क्षत्रिय के पास हथियारों का रहना वैसा ही है, जैसा कि आग के पास घास का रहना। इन्हीं हथियारों की बदौलत आप निरपराध जीवों को मारने की प्रतिज्ञा कर बैठे हैं। नाथ यह विचार न कीजिए। मुनियों का यह धर्म नहीं है। आपको जिस धर्म के पालन की आज्ञा दी गई है, वही कीजिए। क्योंकि धर्म ही से सब सुख प्राप्त होते हैं, और धर्म ही संसार का सार है। मैं ये बातें आपको शिक्षा के विचार से नहीं कहती, केवल प्यार से कह रही हूँ।"

तब रामचंद्रजी ने जवाब दिया—"प्रिये, तुमने जो बातें कही हैं, वे बहुत अच्छी हैं। अब मेरी बात सुनो। क्षत्रिय लोग दूसरे के दुःख दूर करने के लिये ही हथियार बाँधते हैं। यदि कोई दीन-दुःखी क्षत्रिय की शरण में आवे, तो क्षत्रिय का परम धर्म उसकी रक्षा करना ही है। सो यहाँ तो एक नहीं अनेक ऋषि मेरी शरण में आए हैं। राक्षस लोग अकारण ही इन धर्मात्मा जनों को सता रहे हैं। यदि उन पापियों का नाश न किया जायगा, तो ये ऋषि और भी सताए जायँगे। फिर तो कोई धर्म ही काहे को करेगा ? सो धर्मात्मा की रक्षा के लिये पापी को मार डालना कुछ बुरा नहीं है। यदि वह न मारा

जायगा, तो धर्म तो घटेगा ही और पाप बढ़ेगा। फिर मैं ऋषियों के सामने राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अब उस प्रतिज्ञा से विमुख नहीं हो सकता। अब चाहे तुम भी छूट जाओ, लक्ष्मण भी छूट जायँ, और मेरे प्राण भी चले जायँ, तो भी मैं प्रतिज्ञा का पालन अवश्य करूँगा। तुमने प्यार से जो बातें कही हैं, उनसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

सीताजी को हठ तो कुछ भी न गया था। पतिदेव की बातें उनकी समझ में आ गईं। उनका संदेह जाता रहा। उन्होंने भी अपने विचार पति के अनुकूल बना लिए। अस्तु! इसी प्रकार बातचीत करते हुए श्रीराम, सीताजी और लक्ष्मणजी सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम में पहुँचे और उनके बताए हुए मार्ग से उनके गुरु अगस्त्य ऋषि के आश्रम की ओर चले। इन लोगों की सुजनता से ऋषिजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सब को प्रेम से आशीर्वाद दिया और फिर श्रीराम से कहा—"राम! तुम इस ऊबड़-खाबड़ और पथरीले दंडक वन में घूमते-घूमते थक जाते होगे और बेचारी सीतादेवी को भी बहुत दुःख होता होगा। इसलिये तुम ऐसा कुछ उपाय करो, जिससे सीता को यह कष्ट न हो। चाहो, तो हमारे आश्रम ही में रहो। यहाँ तुम्हें सब तरह का सुख मिलेगा।"

तब रामचंद्रजी ने उनसे कोई एकांत स्थान पूछा। ऋषिजी ने कुछ सोचकर जवाब दिया—"यहाँ से सात-आठ कोस की दूरी पर नासिक के पास पंचवटी नाम का स्थान है। वह

बड़ा ही रमणीय स्थान है। पास ही गोदावरी की धारा कल-कल करती हुई बह रही है। उसका जल बड़ा ही निर्मल और स्वादिष्ठ है। जगह-जगह सुंदर सरोवर हैं, जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिले रहते और उन पर भौंरे मँडराते रहते हैं। जल के तीर पर हंस, सारस इत्यादि पक्षी क्रीड़ा करते रहते हैं, चारो ओर हरे-भरे फल-फूलों से लदे हुए वृक्षों की कुंजें हैं। कोयल की कूक और मोर की मधुर वाणी सुनते ही बनती है। पास ही पर्वत-माला नीलाकाश से बातें कर रही है। वहाँ नाना जाति के सुंदर वृक्ष देखते ही दर्शक का मन मोह जाता है। वहाँ की शोभा देखने योग्य है। तुम वहीं रहो। वहाँ तुम्हें सब तरह का सुख मिलेगा।" श्रीराम को ऋषि की बात पसंद आई। वे पंचवटी में चले आए। वहाँ की शोभा देख सब की थकावट जाती रही, जी हरा हो गया। सीताजी ने तो तुरंत वहीं रहने का निश्चय कर लिया। उनकी इच्छा देख श्रीराम ने लक्ष्मणजी को कुटी बनाने की आज्ञा दी। लक्ष्मणजी भाई-भौजाई की आज्ञा की तो वाट ही जोहते रहते थे। उन्होंने फ़ौरन् एक सुंदर-सी पर्णकुटी तैयार कर दी। श्रीराम उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए और पत्नी तथा भाई-समेत उसी में रहने लगे।

सीता-हरण

अयोध्या की राजलक्ष्मी ने पंचवटी में नया राज्य फैला दिया। नीलाकाश से बातें करनेवाला पर्वत-प्रदेश वह नूतन राज्य था और उसमें आनंद-पूर्वक विचरण करनेवाले पशु-पक्षी मानो उस राज्य की प्रजा थे, जो सीतादेवी का वात्सल्य-प्रेम पाकर मानो सजीव हो उठे थे। लक्ष्मणजी उस राज्य के निष्ठावान् मंत्री थे। वे तन-मन से अपने राजा-रानी की सेवा करते थे। उन्हें अपने धर्म का पालन करते हुए बड़ा ही आनंद होता था। वे राजा और रानी की आज्ञा का पालन बड़ी ही श्रद्धा, भक्ति और तत्परता से करते थे। वे गोदावरी से जल भर लाते और वन से कंद, मूल, फल, फूल, समिधा आदि आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर लाते थे। अपनी सेवा-भक्ति से वे भाई-भौजाई को किसी वस्तु का अभाव न होने देते थे। ऐसा निष्ठावान् सेवक पाकर राजा-रानी अयोध्या के उस वैभवशाली राज्य को बिलकुल ही भूल गए थे। सीतादेवी ऐसा पुत्र-तुल्य देवर पाकर मगन रहती थीं। जब राम और सीता एकांत में बैठते, तब लक्ष्मणजी की ख़ूब बड़ाई होती थी, और लक्ष्मणजी, वीरासन जमाए कुटी का पहरा दिया करते थे।

पंचवटी में सीतादेवी ने शीघ्र ही प्रकृतिदेवी के साथ हेल-

मेल कर लिया। सामने गोदावरी की जल-धारा कलकल ध्वनि से बहती थी, और सीता अपने को जंगली फूलों से सजाकर उसके दोनो तीरों पर विचरण करती थीं। पशु-पक्षी उनका प्रेम-दान पाकर अभय हो उनके पीछे-पीछे फिरते थे। वे राज-हंस और सारसों को देखकर प्रफुल्लित होती थीं, और वे सीता-देवी को देखकर अपनी मूक-भाषा में प्रसन्नता प्रकट करते थे। जिस समय सीताजी नदी-तट पर धीरे-धीरे चलती थीं, उस समय उनके नूपुरों की मधुर ध्वनि सुन राजहंस और सारस चकित हो जाते और फिर भोजन की खोज में लग जाते थे। मोर उन्हें प्रसन्न करने के लिये ही मानो अपनी विशाल तारका-युक्त पूँछ फैलाकर नाच उठते थे। जब वे शाम-सबेरे घूमने निकलतो, तब हिरनों के छोटे-छोटे बच्चे उनके आगे-पीछे चलते थे, कभी वे सीता का मुखड़ा ताकने लगते और कभी नरम-नरम दूब चरने लगते थे। ऐसे आनंद के समय में भला कोयल काहे को चुप रहती ? वह भी मानो आनंदातिरेक से पंचम स्वर में कुहुक उठती थी। यह सब देख-सुनकर सीता-जी आनंद से विभोर हो उठती थीं। फिर किसी फटिक-शिला पर बैठकर वन-पुष्पों से अपना शृंगार करने लगतीं। जब श्रम से श्रीराम के पसीना झलक आता, तब वे अपने अंचल से हवा कर उनका सारा श्रम हर लेतीं और जब श्रीराम अपने प्रिय जनों की स्मृति में व्याकुल हो उठते, तब अपनी मीठी-मीठी बातों से उन्हें ढाढ़स बँधातीं।

कभो सीतादेवी स्वामी के साथ सरोवरों में खिले हुए कमल लेने जातीं और वहाँ देर तक जल-क्रीड़ा करती थीं। कभी स्वामी के साथ अपनी इच्छा से ही पर्वत पर चली जातीं, वहाँ सैर करतीं, गिरि-कंदराओं, लता-पुष्पों को देखकर प्रसन्न होतीं, वहीं पति से धर्म-चर्चा करतीं और उनसे कितनी ही कहानियाँ भी सुनती थीं। सीताजी को वृक्षों और पुष्पों से बड़ा ही प्रेम था। इसलिये उन्होंने कुटी के पास ही एक छोटी-सी वाटिका लगा रक्खी थी। लक्ष्मणजी पानी भर लाते और वे बड़े प्रेम से पौधे सींचती थीं। वाटिका में तरह-तरह के पक्षी आते और चिहुँक-चिहुँककर अमृत-धार बरसाने लगते थे, तब सीता भी उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर गुनगुनाने लगतीं, मानो वनश्री अपने प्यारे शिशुओं को इसी मिस से कुछ सिखावन दे रही हो।

सीतादेवी इस प्रकार प्रकृति की उपासना में ही सारा समय नहीं बिता डालती थीं। वे बराबर पति की सेवा करतीं, भजन-पूजन में मन लगातीं और स्वामी तथा देवर के साथ धर्म की चर्चा भी ख़ूब करती थीं। जब ऋषि-मुनि श्रीराम से मिलने आते और उनसे धर्म-विषयक वाद-विवाद करते, तब सीता-देवी भी वह संवाद बड़े ध्यान से सुनती थीं। कितनी ही ऋषि-कन्याएँ उनसे मिलने आती थीं। सीतादेवी उनसे नई-नई बातें सीखतीं, उन्हें भी कुछ-न-कुछ सिखलातीं और घंटों उनसे ग़प-शप करती थीं। इस प्रकार उन्होंने उस निर्जन वन में भी सुख

की गृहस्थी बना ली। और उस गृहस्थी में अयोध्या का सारा राज-सुख भूल गईं। पति के आनंदमय सहवास, देवर की भक्ति-मयी सेवा, सुगंध से परिपूर्ण वन-पुष्पों, हरे-भरे वृक्षों, पक्षियों की अमृत-भरी बोलियों और तापस-कुमारियों के भगिनी-भाव ने उनके सारे क्लेश हर लिए। पंचवटी के सुख-समूह के आगे उन्हें राज-सुख तुच्छ जँचने लगा।

परंतु सभी के दिन सदा एक-से नहीं जाते। सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख का फेरा लगा ही रहता है। सीता-जी ने सोचा था कि वनवास के शेष दिन यहीं बिता दूँगी। परंतु उनकी वह इच्छा पूर्ण नहीं हुई। उनके सुखाकाश में अचानक दुःख के बादल घिर आए। और सीताजी दुःख के सागर में जा डूबीं। उन्होंने जिस दुःख की कल्पना भी न की थी, वही उनपर आ टूटा। और उसी दुखाग्नि ने सीता के चरित को शुद्ध-स्वर्ण के समान कांतिमय कर दिया।

उन दिनों दंडक वन में राक्षसेश्वर रावण की बहन शूर्पणखा वास करती थी। वह विधवा हो गई थी। कोई रोक-छेड़ करनेवाला तो था ही नहीं, इसलिये वह दंडक वन में इच्छानुकूल विचरण करती रहती थी। एक दिन वह बड़ा ही मनोहर वेष बनाकर उस वन में घूमने निकली और घूमती-घूमती पंचवटी में जा पहुँची। उस समय श्रीराम सीताजी के साथ गप-शप कर रहे थे, और लक्ष्मण उनसे थोड़ी दूरी पर बैठे हुए थे। श्रीराम का वह नयन-मनोहर रूप देखते ही शूर्पणखा लट्टू हो

गई। उसकी पाप-वासना प्रबल हो उठी। वह श्रीराम के पास पहुँची और उनके साथ विवाह करने का आग्रह करने लगी। पर श्रीराम का चरित्र बड़ा ही पवित्र था। शूर्पणखा का वह भुवन-मोहन रूप और उसकी मीठी-लुभावनी बातों का उन-पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उन्होंने उसे बातों में ही टरकाना चाहा, पर प्रतापी रावण की बहन सहज ही में टल जाने-वाली तो थी नहीं। तब रामजी ने उससे कहा—"भई, मेरा विवाह तो हो गया है। ये मेरी धर्मपत्नी हैं, सीता इनका नाम है। अब ये ही मेरे हृदय की देवी हैं। इन्हें छोड़ अब तो मैं दूसरी स्त्री रखने से रहा। हाँ, यदि तुम विवाह करना ही चाहती हो, तो मेरे उस भाई के पास चली जाओ। उसका नाम लक्ष्मण है। वह भी ख़ूब सुंदर और पूरा वीर है। शायद तुम्हारे साथ विवाह करने को राज़ी हो जाय।"

इतना सुनते ही शूर्पणखा श्रीराम का पीछा छोड़ लक्ष्मणजी के गले जा पड़ी। बेचारे भोले-भाले लक्ष्मण बड़ी आफ़त में पड़ गए। उन्होंने शूर्पणखा को बहुत समझाया, पर वह काहे को मानने चली! जब उसने देखा कि ये दोनो भाई मेरी इच्छा पूरी नहीं करना चाहते और इसका कारण इनके साथ-वाली सुंदर रमणी ही है, तब तो उसे बड़ा ही क्रोध आया और वह डरावना भेष बना सीताजी को डराने के लिये दौड़ी। उसका भयंकर रूप देखते ही सीताजी डर गईं। उनका मुख-कमल मुरझा गया। अब तो लक्ष्मणजी को भी क्रोध आ

भाई मेरा विवाह तो हो गया है। ये मेरी धर्म-पत्नी हैं (पृष्ठ ११२)

गया। वे भी उसे मारने को दौड़े। पर रामचंद्रजी ने उनसे कहा—"देखना भाई, भूल न जाना। शास्त्र में स्त्री-हत्या अधर्म है।" तब तो लक्ष्मणजी ने शूर्पणखा के नाक-कान काट लिए।

बेचारी रोती-चीख़ती हुई भागी। यह देख सीतादेवी की जान-में-जान आई।

जनस्थान में शूर्पणखा के भाई खर और दूषण रहते थे। उनके पास चुने हुए चौदह हज़ार राक्षसों की वीर-सेना थी। शूर्पणखा रोती-बिलबिलाती उन्हीं के पास पहुँची। उसकी दुर्गति का सब हाल सुनकर खर-दूषण को बड़ा ही क्रोध आया। खर ने कहा—"बहन, रोओ मत। मैं अभी उस भुनगे को पकड़े लाता हूँ। तुम उसका गरम-गरम लहू पीकर अपना क्रोध शांत कर लेना।" निदान खर-दूषण ने दल-बादल लेकर श्रीराम पर धावा बोल दिया। पर उनके सामने से वह वीर-वाहिनी आँधी में तिनके के समान उड़ गई। खर-दूषण सेना-समेत मारे गए। चारो ओर श्रीराम का आतंक छा गया।

तब तो हत-भागिनी शूर्पणखा बड़े भैया रावणजी के पास पहुँची। उसने रो-रोकर रावण को अपना दुखड़ा सुनाया। मारे क्रोध के उसका सारा शरीर काँपने लगा। आँखों से चिन-गारियाँ निकलने लगीं। उसने शूर्पणखा से कहा—"बहन, मैं त्रिलोकी को तुच्छ समझनेवाला महाप्रतापी रावण हूँ, और तुम मेरी बहन हो। किस अभागे के सिर पर काल खेल रहा है, जो उसने तुम्हारा अपमान करने का साहस किया? उसने क्यों तुम्हारा अपमान किया, यह भी जल्दी बतला दो। रावण की बहन का अपमान करनेवाला त्रिलोकी में भी कुशल से नहीं रह सकता।"

शूर्पणखा ने उसे जवाब दिया—"भैया, तुम व्यर्थ ही अपने बल की डींग हाँकते हो, एक दंडक वन पर तो तुम्हारा अधिकार नहीं है और त्रिलोकी की बातें मारते हो। नहीं तो मेरी यह दशा ही क्यों होती? पंचवटी में 'राम' नाम का एक तपस्वी अपने भाई और पत्नी-समेत रहता है। उसकी स्त्री ऐसी सुंदर है कि तुम्हारे रनिवास की श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ स्त्री उसकी दासी होने योग्य है। मैंने उसके रूप की बड़ाइ सुनी। मैंने सोचा कि ऐसी सुंदरी वनवासी तपस्वी के योग्य नहीं, वह तो तुम-जैसे त्रैलोक्य-विजयी वीर की गोद में शोभा पाने योग्य है। सो भैया, मैं तुम्हारे लिये ही वह स्त्री लेने गई थी और नाक-कान गँवाकर आ गई। तुम राम को निरा तपस्वी ही न जानो, वह और उसका भाई दोनो ही बड़े वीर हैं। जब भैया खर-दूषण मेरे अपमान का बदला लेने को गए, तब उन दोनो ने देखते-ही-देखते सेना-समेत उनका नाश कर डाला। ओह! मेरे हृदय में इस भीषण अपमान की और भाइयों के वियोग की ज्वाला हाहाकार करके जल रही है। मैं बदला चाहती हूँ, केवल बदला! जब राम भाई-समेत धर्ती पर निर्जीव लोटता दिखेगा, जब उसकी वह सुंदर स्त्री तुम्हारी गोद में बैठी दिखेगी, तब मेरे कलेजे की आग ठंढी होगी। यदि त्रैलोक्य-विजयी बनने का दम भरते हो, तो मेरी आग ठंढी करो।"

शूर्पणखा के कटाक्ष-वचनों से रावण अपमान की ज्वाला में जलने लगा। वह मन-ही-मन कुछ सोचने लगा। अदृश्य

आशंका से उसका हृदय काँप उठा। शूर्पणखा के अपमान से उसे दुःख अवश्य हुआ, क्रोध भी आया, पर सीता की सुंदरता के वर्णन ने उन अपमान-जनित भावों पर पानी फेर दिया। उसने सोचा, यदि वह स्त्री ऐसी सुंदरी है, तो उसे जैसे बने, वैसे प्राप्त करना चाहिए और उसे प्राप्त कर लेना ही मानो शूर्पणखा के अपमान का बदला ले लेना है। उसने गंभीरता-पूर्वक शूर्पणखा को उत्तर दिया—"बहन, जो होना था, वह तो हो ही चुका। अब दुःख करने से क्या लाभ? तुम राम के बल से इतनी चिंतित न हो। मैंने बड़े-बड़े वीरों को धूल चटा दी है, वह निगोड़ा कितना वीर होगा। शीघ्र तुम उस रमणी को मेरे राजभवन में देखोगी।"

रावण ने शूर्पणखा से कहते तो कह दिया, पर वह पड़ गया बड़े सोच में। जिसने पल-भर में खर-दूषण-जैसे वीरों को उसकी विशाल सेना-समेत यमपुर को भेज दिया, वह साधारण बली नहीं है। उससे उसकी स्त्री को लड़-भिड़कर छीन लेना भी सहज नहीं है। पर उस स्त्री को प्राप्त अवश्य करना चाहिए। तब क्या किया जाय? लड़ने में तो सार नहीं दिखता, केवल छल-कपट से ही काम लिया जा सकता है। सभी जानते हैं कि रावण कैसा वीर है। कोई क्षण-भर के लिये न सोचेगा कि मैं यह स्त्री छल-कपट से चुरा लाया हूँ। अच्छा, तो ऐसा ही करना चाहिए।

बस, रावण एक दिन मारीच के पास पहुँचा। मारीच बड़ा ही मायावी था। वह भाँति-भाँति के भेष बनाना जानता था। रावण ने उससे कहा—"मामा, आजकल राक्षसों पर जो आपत्ति आई है, वह आपसे छिपी न होगी। दशरथ के बेटे राम ने हमारी बहन शूर्पणखा के नाक-कान काट डाले हैं और मेरे भाई खर-दूषण को चौदह हज़ार वीरों-समेत मार डाला है। इस अपमान से मैं बहुत ही मर्माहत हुआ हूँ। मैं उस राम से बदला लेना चाहता हूँ। आप मेरी सहायता कीजिए। मैंने एक बहुत अच्छी तरकीब सोची है। आप पंचवटी में चलें और सुनहले मृग का रूप धारण कर राम के आश्रम के सामने से निकलें। आपका वह सुंदर रूप देखकर सीता, राम से आप के पकड़ लाने का आग्रह करेगी। ज्यों ही राम-लक्ष्मण तुम्हें पकड़ने को निकलेंगे, त्योंही मैं सीता को हर लूँगा! इससे अपमान का बदला वसूल हो जायगा और सीता के वियोग में राम भी मर जायगा। कहिए, कैसी अच्छी युक्ति है? साँप भी मरेगा और लाठी भी न टूटेगी।"

रावण की बातें सुनते ही मारीच की आत्मा काँप उठी। विश्वामित्र के आश्रम का दृश्य उसकी आँखों में झूल गया। उसने घबराकर रावण को जवाब दिया—"महाराज, आपका विचार बहुत अनुचित है। आप इस काम को जितना सरल समझते हैं, वह उतना सरल नहीं है। इसमें मेरे प्राण तो जायँगे ही, पर आपकी भी कुशल नहीं है। शायद राक्षस-वंश

का समूल नाश भी हो जाय ! आप राम को ऐसा-वैसा न समझिए। मैं उनकी शक्ति को ख़ूब जानता हूँ। मेरी बात मानिए, चैन से घर बैठिए; इसी में कुशल है।"

पर राक्षस-वंश पर तो मृत्यु के बादल मँडला रहे थे। रावण को मारीच की बातें विष-सी जान पड़ीं। वह मारीच पर बहुत बिगड़ा और उसे डराने-धमकाने लगा। बेचारा मारीच क्या करता ? रावण उसका राजा था, और ऐसा-वैसा राजा नहीं, बड़ा ही बली, पराक्रमी और कठोर ! उसे रावण की बात माननी ही पड़ी। वह मृत्यु का आलिंगन करने के लिये तैयार हो गया।

रावण और मारीच पुष्पक विमान में बैठकर दंडक वन में जा पहुँचे। रावण तो एक झुरमुट में छिप रहा और मारीच ने बड़े ही सुंदर सुनहले मृग का रूप बना लिया। वह श्रीराम की कुटी के आस-पास घूमने लगा। वह बड़ी ही चतुराई से उछलता-कूदता था, मटक-मटककर हरी-हरी घास चरता था। कभी इधर उछल जाता था, तो कभी उधर। उसके सुनहले रूप में रुपहली टिकलियाँ बड़ी ही भली मालूम होती थीं। अठखेलियाँ करता-करता वह सीताजी के सामने जा पहुँचा। उसका वह सुंदर सुनहला रूप, वह उछलना-कूदना, वह अठला-अठलाकर घास पर मुँह मारना, बरबस देखनेवालों का मन चुरा लेता था। उसे देखते ही सीताजी का मन ललचा गया। उनके मन में सहसा आया—अहा ! यह मृग

मेरे आश्रम में होता, तो आश्रम की शोभा किस प्रकार बढ़ जाती। सीताजी जानती थीं कि श्रीराम शक्तिशाली हैं। उनके निकट कोई कार्य असंभव नहीं हैं। अतः उन्होंने प्रेम-भरी वाणी में श्रीराम से कहा—"हे नाथ! ज़रा इस मृग को तो देखिए! इसका रूप कैसा मनोहर है। जबसे मैंने इसे देखा है, तभी से इसे पाने के लिये मेरा मन चंचल हो रहा है। कृपया आप इसे पकड़ लाइए! मैं इसे अपने आश्रम में बाधूँगी, इसके साथ खेलूँगी।"

सीताजी बड़ी ही पतिव्रता थीं, वे अपने पूज्य पति से किसी भी वस्तु की याचना न करती थीं। उनकी बड़ी साध रहती थी कि सीताजी हम से किसी वस्तु को पाने के लिये प्रेमाग्रह करें। और जब कभी सीताजी उनसे कोई वस्तु माँगती थीं, तब श्रीराम बड़े प्रेम से उनकी इच्छा पूरी करते थी। आज इस दूर देश में, इस गहन वन में, राजनंदिनी सीताजी की यह थोड़ी-सी इच्छा देख श्रीराम पुलकित हो उठे। वे भी मृग पर मुग्ध हो रहे थे। अतः उन्होंने—

"मृग विलोकि कटि परिकर बाँधा,
करतल चाप रुचिर सर साँधा।"

फिर—

"प्रभु लछमणहिं कहा समुझाई,
फिरत विपिन निशिचर बहु भाई।
सीता केर करेहु रखवारी,
बुधि बिबेक बल समय बिचारी।"

इस प्रकार तैयार हो और लक्ष्मणजी को समझा-बुझाकर श्रीराम कुटी से बाहर निकले और मृग की ओर बढ़े। उन्होंने ज्यों ही उस माया-मृग का पीछा किया, त्यों ही वह भागकर छिप रहा। श्रीराम उसकी माया न समझ सके, वे उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। वह कभी छिप जाता था, कभी सामने आ जाता था, और कभी चौकड़ी भरता हुआ दूर निकल जाता था। इस प्रकार उसने श्रीराम को ख़ूब ही छकाया। वह उन्हें धीरे-धीरे बहुत दूर ले गया। उसकी यह छलना देख श्रीराम का माथा ठनका। उन्होंने सोचा, हो न हो यह कोई राक्षसी माया है। वे उसे जीवित ही पकड़ना चाहते थे! पर उसने उन्हें परेशान कर डाला। यदि वे उसे मारना चाहते, तो कब का मार डालते! जब उन्हें उसके जीवित प्राप्त होने की आशा न रही, तब उन्होंने खींझकर निशाना साध बाण छोड़ दिया! निशाना अचूक बैठा! बाण लगते ही मारीच उछला और श्रीराम की आवाज़ में—"हा सीता! हा लक्ष्मण! तुम कहाँ हो?" कहकर गिर पड़ा और गिरते ही मर गया। यह कौतूहल देख श्रीराम सन्नाटे में आ गए।

राक्षस की वह छलना-मयी आर्त-वाणी श्रीराम की कुटी में पहुँची। उसे सुनते ही लक्ष्मणजी सावधान हो गए! उन्हें श्रीराम की वीरता पर अटल विश्वास था! परंतु सीताजी के प्राण काँप गए! पति-हित-कातरता ने उनके कोमल हृदय को मथ डाला। उनकी आँखें डबडबा आईं। उन्होंने रूँधे गले

से लक्ष्मणजी से कहा—"भैया ! तुमने यह आर्त वाणी सुनी ? जान पड़ता है, वे किसी भयंकर आपत्ति में फँस गए हैं, और हमें सहायता के लिये पुकार रहे हैं ! जाकर देखो तो ! देर मत करो, भय की आशंका से मेरा हृदय धड़क रहा है।"

यह सुन लक्ष्मणजी ने उन्हें जवाब दिया—"भाभी ! अधीर मत हो। भैया ऐसे कायर और भीरु नहीं हैं, जो ऐसी दीन वाणी उनके मुख से निकल सके। हो न हो, यह वाणी उसी माया-मृग की है। वह कोई कपटी राक्षस रहा होगा ! हमें भ्रम में डालने के लिये उसी ने यह चाल खेली है। चिंता की कोई बात नहीं है।"

सीताजी ने उसी अधीरता से पुनः कहा—"भैया ! देर न करो। मेरा जी घबरा रहा है ! न-जाने उन पर क्या बीत रही होगी। कहीं वे ही किसी राक्षस के फंदे में फँस गए हों, तो ?"

लक्ष्मणजी बोले—"भाभी ! अभी तुम राक्षसी-माया नहीं जानतीं। मैं तो कभी भी यह विश्वास नहीं कर सकता कि क्या देवता, क्या राक्षस, कोई भी भैया को सता सके। तुम घबराओ मत। भैया उसे मारकर आते ही होंगे। मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जा सकता, भैया मुझे यहाँ से कहीं न जाने की आज्ञा दे गए हैं।"

परंतु सीताजी का हृदय श्रीराम के प्रेम से लबालब भरा हुआ था। प्रियतम के अशुभ की आशंका से हृदय-सागर में दुःख का तूफ़ान आ गया, उसमें शोकावेग से बड़ी-बड़ी लहरें उठने

लगीं। वे मारे दुःख के पागल हो उठीं, उनकी सुध-बुध जाती रही! लक्ष्मणजी की बातों ने, उनकी शांति ने उन्हें और व्याकुल कर दिया! वे लक्ष्मणजी पर बिगड़ पड़ीं और अनाप-शनाप बकने लगीं। लक्ष्मणजी अबोध शिशु के समान उनकी बातें सुनते रहे। सीताजी की वह दशा देख उनकी आँखें भर आईं। उन्होंने सीताजी से कहा—"मा, नाराज़ न होओ, भैया मुझे तुम्हारी रक्षा का भार सौंप गए हैं, पर तुम नहीं मानती, तो जाता हूँ। परमात्मा तुम्हारा भला करे!" इतना कह, उन्होंने सीताजी के चरण छुए और कुटी के बाहर पैर रक्खा! सीताजी की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी! इस समय लक्ष्मणजी की दशा बहुत बुरी हो रही थी, श्रीराम का भय और सीताजी को अकेली छोड़ जाने का भय रह-रहकर नके हृदय को मसोसता था। वे आगे पैर बढ़ाते थे, पर फिर-फिरकर कुटी की ओर ताकते जाते थे।

अभी लक्ष्मणजी को गए थोड़ी देर भी न हुई थी कि कुटी के दरवाज़े पर एक संन्यासी आ खड़ा हुआ। वह गेरुए वस्त्र पहने हुए था, उसके दाहिने हाथ में दंड और बाएँ में कमंडलु था। उस समय सीताजी दुःखित हो रही थीं। उनके मलीन मुखड़े से दिव्य-ज्योति फूट रही थी। कमल-नेत्रों से आँसुओं की बूँदें झड़ रही थीं। उनका वह भुवन-मोहन सौंदर्य देख संन्यासी मुग्ध हो गया। थोड़ी देर शांत रहकर उसने सीताजी से भीख

माँगी। उसका शब्द सुनते ही धर्म-प्राणा सीताजी अंचल से आँखें पोंछती-पाछती उठ खड़ी हुईं। उन्होंने संन्यासी को प्रणाम किया, और झट से उसके लिये कुशासन ले आईं! बहुत-से कंद-मूल-फल लाकर उसके सामने रख दिए, और उससे प्रार्थना की--"महाराज, आप थोड़ी देर विश्राम कीजिए। मेरे स्वामी और देवर आते ही होंगे।"

परंतु संन्यासी ने इस अतिथि-स्वागत की ओर ज़रा भी ध्यान न दिया। इधर-उधर देखकर वह सीताजी से कहने लगा—"सुंदरि, मैं तुम्हारे रूप की क्या बड़ाई करूँ! वह पुरुष कितना भाग्यवान् है, जिसके गले में तुमने वर-माल डाली है। तुमने अभी मुझे पहचाना नहीं, मुझे कोरा भिखारी ही मत समझो। जिसके डर से देवताओं को नींद नहीं आती, जिसके डर से असुर थर-थर काँपते हैं, और जिसका नाम सुनते ही बड़े-बड़े वीर पुरुषों के प्राण सूख जाते हैं, मैं वही महाप्रतापी लंकापति रावण हूँ! तुम्हारे इस मोहन-रूप ने मेरा चित्त चुरा लिया है। मैं यह भिक्षा नहीं चाहता, मैं तो तुम्हारे रूप का भिखारी हूँ। सो अब तुम मेरे साथ लंका चलो! लंकापुरी के सामने इंद्र की अमरावती की शोभा भी फीकी है। वहाँ चलकर तुम मेरी पटरानी बनोगी, मेरी सारी रानियाँ, और हज़ारों बाँदियाँ तुम्हारी सेवा करेंगी। वहाँ चलकर तुम चाहोगी, तो सारे संसार पर हुकुम चलाओगी! इस फूस की झोंपड़ी में क्या रक्खा है?"

रावण का नाम सुनते ही सीताजी के होश जाते रहे, उनका हृदय काँप उठा ! परंतु शीघ्र ही सँभलकर, उन्होंने रावण को झिड़कते हुए जवाब दिया—"धन्य रे पापी तेरा साहस ! तू विषहरी नागिन के साथ खेलना चाहता है ! लपलपाती हुई नंगी तलवार को अपने गले पर फेरना चाहता है। कौंधती हुई बिजली को गले से लगाना चाहता है। कहाँ सिंह, कहाँ गीदड़ ! कहाँ हंस, कहाँ गीध ! कहाँ गरुड़, कहाँ कौआ ! कहाँ समुद्र, कहाँ नदी ! कहाँ सुवर्ण और कहाँ लोहा ! कहाँ चंद्र और कहाँ तारा ! कहाँ धर्मात्मा, सदाचारी, उदार हृदय राम और कहाँ पापी, दुराचारी और निर्दयी रावण ! रे पापी ! भला सिंह का भाग कभी गीदड़ ने भी पाया है ? जान पड़ता है, तेरे सिर पर मृत्यु नाच रही है। इंद्राणी का अपमान करनेवाला भले ही सकुशल बच जाय, पर सीता का अपमान करनेवाले की श्रीराम के सामने त्रैलोक्य में भी कुशल नहीं है। जा-जा ! अपना मुँह काला कर। शीघ्र भाग ! नहीं तो मेरे बीर स्वामी और देवर आते ही तेरा शरीर बोटी-बोटी कर कौओं और गीदड़ों को खिला देंगे।" यह कहते-कहते मारे क्रोध के सीताजी का शरीर थर-थर काँपने लगा। आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं।

सीताजी की वह उग्र-मूर्ति देखकर रावण का पापी-हृदय सहम गया। परंतु पापी-हृदय सहमकर भी पाप की ओर ही दौड़ता है। पापी-हृदय में सद्विचारों का प्रवाह कुंठित ही रहता

हैं, जिस प्रकार कि जल की तरंगें, चट्टान से टकराकर निष्फल हो जाती हैं। रावण ने एक क्षण के लिये भी यह विचार नहीं किया कि मैं यह क्या करने जा रहा हूँ और इसका क्या परिणाम होगा! उसने पुनः चारों ओर देखकर सीताजी से कहा—"सुंदरि! तुम बहुत भोली हो! अभी तुम रावण का प्रताप जानती नहीं। जब तक तुमने रावण का प्रताप देखा नहीं, तभी तक ये बातें कर रही हो! मेरे क्रोध से इंद्र का आसन भी हिल जाता है। मेरे भाई और बेटे बड़े बलवान् हैं। मेरा बड़ा बेटा इंद्रजीत कहलाता है! मेरे डर से हवा भी धीरे-धीरे चलने लगती है। मैं चाहूँ, तो अभी सूरज को टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ, सारे समुद्र को पी लूँ और पृथ्वी को गेंद के समान उठाकर फेंक दूँ! अरी पगली! राम तो मेरी उँगली के बराबर भी नहीं हैं! तीनो लोकों में तुझे रावण से श्रेष्ठ पति नहीं मिल सकता! मेरा कहना मान, सीधे-सीधे मेरे साथ चली चल, नहीं तो मैं जबर्दस्ती ले जाऊँगा।" यह कहते-कहते रावण ने चटपट अपना असली रूप सीताजी को दिखाया। उसका वह भयंकर रूप देखते ही वे मारे भय के मूर्च्छित हो गईं।

जब सीताजी की मूर्च्छा टूटी, तब उन्होंने देखा कि वे रावण के साथ विमान में बैठी हुई हैं। वायुमंडल को चीरता हुआ विमान धीरे-धीरे ऊपर उठरहा है! अपनी विवशता देख सीताजी बहुत व्याकुल हुईं! वे रावण से गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगीं—"हे वीर! इस प्रकार मुझ अबला को न सताओ!

मुझ अबला को सताने में न तुम्हारी वीरता है न बड़ाई ! इस में अधर्म ही होगा ! अधर्म से किसी का भला नहीं होता !" पर वहाँ धर्म का पचड़ा कौन सुनता था ? विमान की गति क्रमशः तीव्र होने लगी। तब तो सीताजी विलख-विलखकर विलाप करने लगीं।—

"हा जगदीश ! देव ! रघुराया !
केहि अपराध बिसारेहु दाया ?
आरत-हरण ! शरण - सुख-दायक !
हा रघु-कुल-सरोज ! दिन-नायक !
हा लक्ष्मण ! तुम्हार नहिं दोषा।
सो फल पायउँ, कीन्हेऊँ रोषा ॥
कैकेई - मन जो कछु रहेऊ।
सो विधि आजु मोहि दुख दयऊ।
विविध विलाप करत वैदेही।
भूरि कृपा प्रभु दूर सनेही ॥
विपति मोरि को प्रभुहिं सुनावा ?
पुरोडास चह रासभ खावा !"
सीता कर विलाप सुनि भारी।
भये चराचर जीव दुखारी ॥

सीताजी के रोदन से दसों दिशाओं में शोक छा गया। पंचवटी शोभा-विहीन हो गई। वृक्ष जैसे उदास भाव से धीरे-धीरे काँपने लगे ! लताएँ मानो भयभीत हो वृक्षों से जा लिपटीं।

खग-मृग सभी व्याकुल हो ऊपर को देखने लगे! वह आर्त-नाद सुन सब-के-सब स्तब्ध हो गए; मानो दसों दिशाओं में उदासी का राज्य छा गया।

अशोक-वाटिका में

सीताजी की अनुनय-विनय का, उनके हृदय-विदारक रोदन का—उनके धार्मिक उपदेश का क्रूर-हृदय रावण पर तनिक भी प्रभाव न पड़ा। उसका रथ उसी वेग से उड़ा जा रहा था। इतने में उनकी दृष्टि अपने आभूषणों पर पड़ी। उनका भरा हुआ हृदय छलक उठा। हाय! अब इस सिंगार-पटार से क्या काम—यह तो केवल पतिदेव के आनंद के लिये था। जब वे मुझ से बिछुड़ गए, तब मैं ही इन आभूषणों का क्या करूँगी? अब इन्हें त्याग देना ही अच्छा है। शायद इन्हें पाकर वे मेरा पता लगा सकें। ऐसा सोचकर देवी सीता एक-एक करके अपने आभूषण फेंकती जाती थीं। रावण चोर की नाईं भागा जा रहा था। उसका सारा ध्यान विमान के पेंच-पुर्ज़ों में ही उलझा हुआ था; इसलिये वह सीताजी का यह काम न देख सका।

आभूषण फेंकने से भी सीताजी का हृदय शांत न हुआ—उसकी अग्नि और भी भड़क उठी। वे और ज़ोर-ज़ोर से विलाप करती हुई बोलीं—"हे लता-कुंज! यहाँ मेरा कौन बैठा है! तुम्हीं मेरे देवता से कह देना कि सीता को पापी रावण हर ले गया है। हे दिशाओं! तुम आठ पहर चौंसठ

घड़ी जागकर संसार पर पहरा दिया करती हो। तुम रावण का यह अत्याचार देख रही हो! श्रीराम को यह समाचार सुना देना।" इतने में उनकी दृष्टि गोदावरी नदी पर पड़ सीता चीत्कार कर उठीं—"हे सखि! तुम्हारे तीर पर बैठकर मैं कैसे आनंद से दिन बिताती थी। तुम कैसे प्रेम से मुझे जल-दान देती थीं—कैसे प्रेम से अपना कलकल-संगीत सुनाया करती थीं। आज पापी रावण मुझ पर अत्याचार कर रहा है? और तुम देख रही हो। तुम्हारा वह प्रेम कहाँ गया। तुम्हीं श्रीराम को यह समाचार सुना देना।"

सीताजी का रोदन व्यर्थ नहीं गया। उसके रोदन की करुण-ध्वनि भक्त-श्रेष्ठ जटायु के कान में पड़ी। उसका कोमल हृदय पिघल उठा। वह शीघ्र ही रावण की ओर झपटा। सीताजी पर दृष्टि पड़ते ही उसका ख़ून उबल उठा। उसने सीताजी से कहा—"बेटी, घबराओ नहीं। मैं आ पहुँचा, जब तक मेरे शरीर में बल है, तब तक रावण तुम पर अत्याचार नहीं कर सकता।" फिर वह कड़ककर रावण से बोला—"रे पापी, कमीने कुत्ते, तेरी इतनी मजाल कि सीताजी को हरे लिए जाता है! अरे! ये तो सिंह की सिंहिनी हैं! इन्हें तू इस तरह नहीं हर सकता। तू तो अपने बल की बड़ी डींग हाँका करता था! फिर तूने यह चोट्टेपन का काम कैसे किया? हम तो तेरा बल तब जानते, जब तू इन्हें श्रीराम और लक्ष्मण के सामने हरता! उन्होंने घड़ी-भर में तेरे चौदह हज़ार राक्षस

मार डाले, फिर भी तू न चेता ! सच है, जिसके सिर पर काल खेलता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अच्छा, अब तू इन्हें छोड़ दे, और जो बल का घमंड रखता हो. तो आ मुझसे दो घड़ी युद्ध कर ले।"

यह सुन रावण ठठाकर हँस पडा। अब तो जटायु से न रहा गया। वह इतने ज़ोर से गरजा कि सारा वन गूँज उठा। इसके बाद वह अपने पंख फटकारकर रावण के विमान पर झपटा। उसने चोंचें मार-मारकर रावण को लहू-लुहान कर दिया। उसके पंखों की फटकार से रावण का विमान चूर-चूर हो गया, और वह धरती पर जा गिरा। अब तो रावण को भी बड़ा क्रोध आया। वह बड़ी तेज़ी से तलवार ले जटायु पर झपटा। दोनो वीरों में घनघोर युद्ध हुआ। बेचारा बूढ़ा जटायु कबतक उस महाबली के सामने टिकता। रावण ने उसके सब पंख काट डाले। एक दुःखीअबला की रक्षा के लिये जटायु से जो बन पड़ा, वही उसने किया। जटायु लाचार हो धरती पर गिर पड़ा। उसकी आँखें डबडबा आईं। उसने सीताजी से कहा—"बेटी, मैं तुम्हारी रक्षा न कर सका ! भगवान् की इच्छा ! उसीने तुम्हें यह दुःख दिया है, वही तुम्हारी रक्षा करेगा। अब मेरे जीवन का दिया बुझने ही वाला है, यदि इस बीच में रामचंद्र यहाँ पधारेंगे, तो मैं उन्हें सब समाचार सुना दूँगा !"

रावण ने झटपट विमान की मरम्मत की। वह फिर सीताजी को लेकर उड़ा। अब तो सीताजी को चारो ओर अंधकार

दिखने लगा। वे मारे भय के मूर्च्छित हो गईं। रावण बिजली की तेज़ी के समान लंका में पहुँचा। उसने एक बड़ी ही सुंदर वाटिका बनवाई थी, जिसमें भाँति-भाँति के पौधे, लताएँ और वृक्ष लगे हुए थे, और जो बारहों मास हरी-भरी बनी रहती थी! इस वाटिका नाम का था—अशोक-वाटिका। रावण सीताजी को लेकर उसी अशोक-वाटिका में पहुँचा। अब तक सीताजी होश में आ चुकी थीं। रावण ने उनसे बड़े ही मधुर शब्दों में कहा—"देवि अब चिंता न करो। अब तो तुम लंका में आ ही गईं। यह अशोक-वाटिका है, इसे देखकर स्वर्ग के देवताओं-का भी जी ललचा उठता है। यहाँ आने से किसी को दुःख-शोक नहीं व्यापता! मुझे आशा है, यहाँ रहने से शीघ्र ही तुम्हारा हृदय खिल उठेगा!"

इस समय सीताजी शत्रु के चंगुल में थीं। यहाँ कोई उनका सहायक न था। अपनी यह दशा देख वे फूट-फूटकर रोने लगीं। इस समय रोना ही उनका एक-मात्र आधार था। तब रावण ने कई राक्षसियाँ वहाँ पहरे पर रख दीं और उनसे कह दिया—"देखो, जैसे बने, इस सुंदरी को वश में लाना है। जिस दिन यह मेरे वश में आ जायगी, उस दिन तुम लोग मनमाना इनाम पाओगी।" राक्षसियाँ सीताजी को भाँति-भाँति से फुसलाती थीं, पर वे चुप ही रहती थीं। जब राक्षसियाँ उन्हें बहुत दिक़ करतीं, तब वे क्रोध में आकर उन्हें झिड़क देती थीं। उनका क्रोध देख राक्षसियाँ सकपका उठती थीं।

एक दिन रावण सीताजी के पास आया और बड़े प्रेम से बोला—"सीता ! तुम बिलकुल पगली हो । जरा सोचो तो, रामचंद्र के साथ उस बीहड़ वन में रहना अच्छा, या मेरे साथ देवताओं की अमरावती को भी मात करनेवाली सोने की लंका में ? तुम नहीं जानतीं कि मैं कितना प्रतापी हूँ ? मेरे डर से देवता थर-थर काँपते हैं, मैं चाहूँ, तो सूर्य और वायु को भी रोक दूँ ! इतना प्रतापी होने पर भी मैं तुम्हारे सामने सिर झुकाता हूँ, इसी से जान सकती हो कि तुम पर मेरा कितना स्नेह है ! यहाँ तुम्हें किस बात की कमी है ? तुम्हारी सेवा के लिये सैकड़ों दास-दासियाँ हैं, जैसे चाहे, वस्त्र-आभूषण पहनो ! पर यह शोक छोड़ दो ! मेरी ओर देखो, अब तो तुम्हारे सारे सुख मुझसे ही लगे हुए हैं । मुझे अपना पति बनाओ, राम की याद में कब तक तड़पती रहोगी ?"

तब सीताजी ने तिनके को आड़ में खड़ा करके कहा—"रावण ! तुमने महात्मा पुलस्त्य के वंश में जन्म लिया है ! फिर भी तुम एक पतिव्रता से ऐसी पाप-पूर्ण बातें करते नहीं लजाते ! पति चाहे जितना दरिद्री हो, पर पतिव्रता के लिये तो उसकी चरण-रज ही त्रिलोक की संपदा से श्रेष्ठ है ! फिर, तुम मेरे पति को अभी भली भाँति नहीं पहचानते । उनके कोप की बिजली गिरते ही तुम-जैसे हजारों रावणों के मुकुट धूल में मिल सकते हैं ! तुम आप एक दिन इस बात का अनुभव कर लोगे ! खेद है, तुम्हारे सिर पर मृत्यु नाच रही है,

तभी तो तुम सर्प के बिल में हाथ डाल रहे हो! अच्छा है, अबभी सँभल जाओ।"

तब सीताजी ने तिनके को आड़ में खड़ा करके कहा—"रावण! तुम ने महात्मा पुलस्त्य के वंश में जन्म लिया है! फिर भी तुम एक पतिव्रता से ऐसी पाप-पूर्ण बातें करते नहीं लजाते? (पृष्ठ १३२)

इस प्रकार रावण ने सीताजी को बहुत समझाया, अनेक प्रकार के लालच दिखलाए, कई बार ख़ूब धमकाया। यहाँ तक कि तलवार से सिर तक उड़ा देने का भी भय दिखलाया, पर सीतादेवी सच्ची पतिव्रता थीं, उन पर रावण की बातों का कुछ भी प्रभाव पड़ता था। एक दिन रावण ने रामचंद्रजी की बहुत ही निंदा की, तब तो सीताजी को बहुत ही क्रोध आया, वे सिंहिनी के समान गरजकर बोलीं—"रे पापी! मैं महात्मा रामचंद्रजी की पतिव्रता पत्नी हूँ, चाहे सूर्य ठंढा हो जाय, चंद्रमा आग उगलने लगे, पर मैं अपना धर्म नहीं त्याग सकती! जैसे कौआ हंस की बराबरी नहीं कर सकता, पापी स्वर्ग नहीं पा सकता, गीदड़ सिंह का शिकार नहीं छीन सकता, वैसे ही तू भी मुझे नहीं पा सकता! जैसे चंद्रमा चाँदनी नहीं छोड़ सकता, सूर्य प्रकाश का त्याग नहीं कर सकता, वैसे ही मैं भी अपनी पतिदेव को नहीं छोड़ सकती! तू चाहे मुझे बाँध, चाहे मार, चाहे जितना सता, पर मैं अपने पवित्र धर्म को नहीं त्याग सकती—नहीं त्याग सकती! तुझ-जैसे पापी का मुँह देखने में भी पाप लगता है—शरीर छूने पर तो कहना ही क्या?"

इस प्रकार सीताजी ने दिखला दिया कि मैं साधारण स्त्री नहीं हूँ। अपने धर्म को भली भाँति पहचानती हूँ—उसकी रक्षा करना भी जानती हूँ! धर्म की रक्षा के लिये मैं तेरी सोने की लंका को—तेरे सारे प्रताप और वैभव को लात की ठोकर लगाती हूँ! धर्म-रक्षा के लिये मैं प्राणों से भी मोह करनेवाली

नहीं ! रावण निराश हो गया। अब तक वह अनेक स्त्रियों को वश में ला चुका था, पर सीताजी की यह दृढ़ता देख वह भौंचक्का रह गया। वह मन-ही-मन खीझ उठा, क्रोध की आग उसके हृदय को झुलसाने लगी। तब वह बिगड़कर बोला—"जानकी ! और भरोसे में न रहना ! मेरा नाम रावण है ! मैं अच्छे-अच्छों को धूल चटा चुका हूँ ! मुझसे पीछा छूटना सहज नहीं ! सँभल जाओ ! मैं तुम्हें बारह महीने का समय देता हूँ ! यदि इस बीच में तुमने मेरी इच्छा पूरी न की, तो खूब याद रक्खो, तुम्हारे इस सुंदर शरीर के टुकड़े कर डाले जायँगे।"

सीताजी—"इन बारह महीनों की आवश्यकता ही क्या ? तू अभी मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े करा डाल ! तेरी इस पाप-पुरी से जितनी जल्दी पीछा छूटे, उतना ही अच्छा।"

अब तो रावण मारे क्रोध के बौखला उठा। पहरेवाली राक्षसियों से बोला—"सुनती हो, यदि इसे जल्दी राज़ी न कर सकीं ; तो तुम्हारी भी ख़बर ली जायगी।" बेचारी राक्षसियाँ काँप उठीं। रावण चला गया।

जो अशोक-वाटिका दुःखियों का दुःख हरने के लिये प्रसिद्ध थी, वही सीताजी का दुःख दिन-दिन बढ़ा रही थी। रावण की आज्ञा पाने से राक्षसियों की बन पड़ी। वे सीताजी को चैन भी न लेने देती थीं, बात-बात पर धमकातीं और भय दिखलाती थीं। मंदभागिनी सीताजी पति के नाम की माला रटते

रटते अपने दुःख के दिन बिताने लगीं। कभी-कभी तो वे पति और देवर की याद करते-करते भय और शोक के मारे अचते भी हो जाती थीं।

सीताजी की खोज

श्रीराम के बाण से मारीच मारा गया। पर, उसने मरते-मरते राम से छल किया—उनसे भरपूर बदला ले लिया। वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला उठा—"हा लक्ष्मण ! हा सीता !" मारीच के ये शब्द सुनते ही श्रीराम का हृदय 'धक्'-से हो गया—उनके मुखड़े पर मलीनता छा गई। वे जल्दी-जल्दी आश्रम की ओर लौटे। रास्ते में उनकी दृष्टि लक्ष्मणजी पर पड़ी। उन्होंने लक्ष्मणजी को क्या देखा, उनकी छाती में तीर-सा लग गया। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"हे भाई ! तुमने यह क्या किया ? मैं सीताजी को तुम्हारे भरोसे छोड़ आया था, तुम उन्हें अकेली छोड़ यहाँ घूम रहे हो ! राक्षस लोग वन में उपद्रव कर ही रहे हैं, कहीं उन्होंने सीताजी को सताया तो ? नहीं मालूम, क्या होनेवाला है ! मेरा जी बहुत घबरा रहा है ?"

लक्ष्मणजी ने उन्हें बड़ी ही नम्रता से उत्तर दिया—"भैया ! मैं क्या करूँ, वह आवाज़ सुनते ही भाभी बहुत घबरा उठीं। और बार-बार मुझे आपके पास आने के लिये कहने लगीं। मैंने उन्हें कितना ही समझाया, पर वे न मानीं, उलटे मुझ-पर अत्यधिक क्रुद्ध हो उठीं। तब मुझे यहाँ आना ही पड़ा। मैं तो पहले ही से जानता था कि हमारे वीर-भाई को कौन सता सकता है !"

यह सुन श्रीराम बोले—"कुछ भी हो, तुमने मेरी आज्ञा न मानकर अच्छा नहीं किया। मुझे तो कुशल नहीं जान पड़ती। जल्दी आश्रम की ओर चलो।"

अब दोनो भाई जल्दी-जल्दी आश्रम की ओर चले। इस समय श्रीराम की बुरी दशा हो रही थी। मन घबरा रहा था, मुँह पर हवाई उड़ रही थी। पैर कहीं रखते थे, कहीं पड़ते थे! पूज्य भाई की यह दशा देख लक्ष्मणजी अपनी ग़लती पर मन-ही-मन कटे जाते थे। शीघ्र ही दोनो भाई कुटी के पास जा पहुँचे! कुटी में सीताजी को न पा रामचंद्रजी की आँखों में अँधेरा छा गया, वे वहीं माथा पकड़कर बैठ गए, और बेचैन होकर लक्ष्मण से बोले—"भाई! अब सीताजी को कहाँ पाऊँगा। उनके विना मैं ही जीकर क्या करूँगा? हा सीता तुम कहाँ हो!" यह कहते-कहते श्रीराम मूर्च्छित हो गए। उनकी यह दशा देख लक्ष्मणजी को भी बड़ा दुःख हुआ, परंतु उन्होंने साहस को हाथ से न जाने दिया। सोचा, यदि इनकी तरह मैं भी घबरा जाऊँगा, तो कैसे काम चलेगा। उन्होंने बड़ी चेष्टा से श्रीराम की मूर्च्छा दूर की। वे होश में आते ही ज़ोर-ज़ोर से बार-बार "सीता-सीता" पुकारने लगे। पर, कुछ उत्तर न मिला। उनकी आवाज़ वन में गूँजकर रह गई। तब तो श्रीराम बालकों के समान बिलख-बिलखकर रोने लगे।

लक्ष्मणजी ने धीरज धरकर उनसे कहा—"भैया! इतने अधीर न हो! भाभी को वन की शोभा देखने का बड़ा शौक़

हैं, क्या जाने, वे कहीं फल-फूल तोड़ने न चली गई हों। चलिए, हम लोग उन्हें वन में ढूँढ़ें !" परंतु रामचंद्रजी की व्याकुलता दूर न हुई; बोले—"भाई ! क्यों झूठी आशा दिलाते हो ! अब सीता कहाँ ? नहीं मानते तो चलो !"

दोनो भाई सीताजी को ढूँढ़ते हुए यहाँ-वहाँ भटकने लगे। इस समय श्रीराम सीताजी के वियोग में पागल हो रहे थे, उन्हें अपनी सुध ही न थी। वृक्षों को देखकर कहने लगते थे—"हे कदंब ! सीताजी तुम्हें बहुत चाहती थी; घंटों तुम्हारी छाया में बैठी रहती थीं, तुम्हीं उनका पता बता दो ; हे अशोक ! तुम कैसे अशोक हो ? मेरा शोक देख क्या तुम्हें भी दया नहीं आती। हे करवीर ! हे तिलक ! सीताजी तुम्हें भी कितना चाहती थीं, तुम्हारा कितना आदर करती थीं, क्या तुम भी उनका पता नहीं जानते ?" पक्षियों को देखकर कहने लगते थे—"हे प्यारे पक्षियो ! तुम देश-देश में जाया करते हो, दसों दिशाओं में घूमा करते हो। तुमने ज़रूर सीताजी को देखा होगा, मुझपर दया करो, उनका पता बता दो !" मृगों के झुंड देखकर कहने लगते थे—"हे मृग ! तुम भी दसों दिशाओं में चौकड़ी भरते फिरते हो, तुम्हीं उनका पता बताओ !" पर, सभी को चुप देख कह उठते थे—"हाय रे दुर्भाग्य ! सभी मेरा दुःख देख चुप हैं ! पक्षी उड़ जाते हैं, मृग भाग जाते हैं और वृक्ष सिर हिला देते हैं ?" लक्ष्मणजी उन्हें बहुत समझाते थे—ढाढ़स दिलाते थे, पर वे उनकी एक न सुनते थे।

इसी प्रकार दोनो भाई सीताजी को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ जा पहुँचे, जहाँ जटायु पड़ा-पड़ा मौत की घड़ियाँ गिन रहा था। उसका लोहू-लुहान शरीर देख, श्रीराम अपना दुःख भूल गए। उनके हृदय में दया का सोता फूट पड़ा।

दीन मलीन अधीन है अंग, विहंग परयो छिति छीन दुखारी ;
राघव दीनदयाल कृपाल को, देखि दशा करुणा भई भारी।
गृद्ध को गोद में लेइ दयानिधि, नैन-सरोजनि में भरि बारी ;
बारहिं बार सुधारत पंख, जटायु की धूरि जटान सों झारी।

उन्होंने जटायु को गोद में उठा लिया, वे उसकी सेवा करने लगे। श्रीराम के हाथ फेरते ही जटायु ने आँखें खोल दीं। अपने को ऐसे दयालु प्रभु की गोद में पा उसकी आँखें डबडबा आईं! तब श्रीराम ने उससे बड़े मधुर शब्दों में पूछा—"जटायु! तुम्हारी यह दशा किस दुष्ट ने की?"

तब जटायु ने उत्तर दिया—

"नाथ-दशानन! यह गति कीन्हीं,
तेहि खल जनक-सुता हरि लीन्हीं।
लै दच्छिण दिशि गयउ गुसाईं,
विलपति अति कुररी की नाईं।
दरश लागि राखेउँ प्रभु प्राना,
चलन चहत अब कृपा-निधाना।"

इतना कहकर जटायु स्वर्ग सिधार गया। श्रीराम को बड़ा दुःख हुआ। उसकी अंत्येष्टि-क्रिया कर वे दच्छिण-दिशा की

ओर चले। चलते-चलते वे शबरी के आश्रम में पहुँचे। शबरी जाति की अछूत भीलनी थी, पर प्रभु की बड़ी भक्ति करती थी। श्रीराम को देखते ही बड़ी भक्ति से उनके चरणों से लिपट गई। उसकी भक्ति और अतिथि-सेवा से श्रीराम बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उसके दिए हुए कंद-मूल-फल बड़ी ही रुचि से खाए। सब हाल सुनकर शबरी ने श्रीराम से कहा—"आप ऋष्यमूक-पर्वत पर चले जाइए। वहाँ किष्किंधा के राजा सुग्रीव रहते हैं। उनका स्वभाव बड़ा ही दयालु और परोपकारी है। उनके मंत्री हनुमान्‌जी भी बड़े ही सज्जन हैं। आप उनसे मित्रता कीजिए। सीताजी का उद्धार करने में उनसे आपको बड़ी सहायता मिलेगी। आप शोक त्याग शीघ्र ही उस पतिव्रता देवी का दुःख दूर करने की चेष्टा कीजिए।"

शबरी की सम्मति से श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए! वे उसे भक्ति का उपदेश दे आगे बढ़े। बन की सुंदर शोभा देख श्री-राम का हृदय रह-रहकर उमड़-उठता था। उनकी आँखें डब-डबा आती थीं। बन-पशुओं की वह मधुर किलकारियाँ, मोर-चकोर आदि पक्षियों का वह मधुर कूजन, खिले हुए पुष्पों पर दल-के-दल भौरों की वह मीठी गुंजार, वृक्षों के साथ नन्हीं-नन्हीं लताओं का वह प्रेम से लिपटना देख-सुनकर श्रीराम की वियोगाग्नि रह-रहकर भड़क उठती थी! वे व्याकुल होकर विलाप कर उठते थे। चलते-चलते वे उस पर्वत के पास जा पहुँचे। पास ही कटोरे के समान सुंदर सरोवर भरा हुआ

था। उसका स्वच्छ जल देख, दोनो भाइयों का जी हरा हो गया। उन्होंने उसमें स्नान कर अपनी थकावट दूर की। इसके बाद वे पर्वत पर चढ़ने लगे।

उस समय महाराज सुग्रीव अपने मित्रों के साथ पर्वत की ऊँची चोटी पर टहल रहे थे। उनकी दृष्टि इन दोनो भाइयों पर पड़ी। उन्होंने हनुमान्‌जी से कहा—"मंत्रीजी! ज़रा उस ओर तो देखो। कैसे सुंदर बालक हैं। इन्हें देखकर हृदय में आप ही प्रेम उत्पन्न होता है। मैंने तो आज तक ऐसे बालक नहीं देखे, जान पड़ता है, जैसे देवता सुंदर रूप बनाकर हमारे यहाँ आ रहे हों! ज़रा जाओ तो, इनका भेद तो लो।"

हनुमान्‌जी शीघ्र ही श्रीराम के पास आ पहुँचे। उनका वह मनमोहन रूप देखते ही हनुमान्‌जी को बड़ा अचरज हुआ, प्रेम से उनका हृदय भर आया। उन्होंने, उनसे बड़ी नम्रता से पूछा—"आप लोग कौन हैं? कहाँ से आ रहे हैं? यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो कृपाकर मुझे अपना हाल सुनाएँ।" तब तो श्रीराम ने हनुमान्‌जी को अपना सब हाल सुना दिया, जिसे सुनकर हनुमान्‌जी को बड़ा दुःख हुआ। वे श्रीराम से बोले—"मैं रावण को जानता हूँ, वह बड़े ही खोटे स्वभाव का आदमी है, तभी तो वह ब्राह्मण होकर भी राक्षस कहलाता है। अच्छा, आप लोग हमारे महाराज सुग्रीव के पास चलिए। आपसे भेंट करने पर उन्हें बड़ा आनंद होगा। हम लोग देवी सीता का पता लगाने में कोई बात न उठा रक्खेंगे।"

हनुमान्जी की बातों से श्रीराम को बहुत संतोष हुआ! वे उनके साथ सुग्रीव के पास पहुँचे! सुग्रीव ने दोनो भाइयों का बड़े प्रेम से स्वागत किया। फिर उन्होंने श्रीराम से कहा—आप लोगों के दर्शन पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, यदि मैं आपका प्रेम प्राप्त कर सका, तो अपने को धन्य समझूँगा। अच्छा, अब आप कृपाकर अपना सब हाल मुझे भी सुना दीजिए।"

तब श्रीराम ने उनको अपना सब हाल सुना दिया। सब हाल सुनकर सुग्रीव बोले—"अच्छा, मुझे भी एक बात याद आ गई। महाराज, अभी थोड़े दिन की बात है, एक दिन मैं अपने मित्रों के साथ इसी पर्वत पर बैठा हुआ था। इतने में एक विमान निकला। हम लोग उसी की ओर देखने लगे। ऐसा जान पड़ा, जैसे विमान में कोई दुखिया स्त्री रो रही हो। इतने में हम लोगों के सामने विमान से कई आभूषण आ गिरे। जान पड़ता है, वह विमान रावण का ही होगा, और उसमें सीतादेवी ही रोती थीं। मैंने वे आभूषण सँभालकर रख लिए थे, आप उन्हें देखिए तो सही कि वे सीतादेवी के हैं या नहीं?"

यह कहकर सुग्रीव ने वे आभूषण श्रीराम को दिखलाए। उन्हें देखते ही श्रीराम की आँखों के आँसू बहने लगे। उन्हें देखते ही वे पहचान गए कि ये सीताजी की शोभा बढ़ाने-वाले ही आभूषण हैं। फिर भी उन्होंने संदेह मिटाने के लिये

लक्ष्मण से कहा—"भाई, तुम भी देखो, ये आभूषण सीता के हैं या नहीं ?"

उन्हें देखकर लक्ष्मण बोले—"भैया ! मैं इन आभूषणों को नहीं पहचानता, क्योंकि मैंने कभी भाभी के शरीर को भर आँख भी नहीं देखा ! हाँ, ये नुपुर अवश्य उन्हीं के हैं ! मैं नित्य उनके चरणों में प्रणाम करता था, तब मेरी दृष्टि इन्हीं पर पड़ती थी, इससे मैं इन्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ।" इतना कहकर लक्ष्मण फुक्का फाड़-फाड़ रोने लगे। अब तो श्रीराम से भी न रहा गया। वे भी बालकों की नाईं विलख-विलख कर रोने लगे।

तब सुग्रीव ने उनसे कहा—"महाराज ! रोने-धोने से क्या होगा ? विपत्ति में तो धीरज ही मनुष्य का सहारा है। धीरज से ही विपत्ति जीती जा सकती है। आप दुःख त्याग साहस से काम लीजिए। मैं सब तरह से आपकी सेवा के लिये तैयार हूँ। विश्वास कीजिए, मैं सीताजी का पता विना लगाए न रहूँगा और तब शत्रु से भी भरपूर बदला लूँगा। शीघ्र ही मैं अपने दूत चारों ओर भेजूँगा !"

सुग्रीव की बातों से श्रीराम का जी कुछ शांत हुआ। इस कृपा के लिये उन्होंने सुग्रीव को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया।

सीता और हनुमान्

सुग्रीव के बड़े भाई का नाम बालि था। बालि का स्वभाव कुछ अच्छा न था। वह सुग्रीव को ज़रा भी न चाहता था; इतना ही नहीं, उसने सुग्रीव का राज-पाट छीनकर उसे मार भगाया था। बेचारा सुग्रीव बालि के डर के मारे, अपने मित्रों के साथ, किष्किंधा नगरी छोड़ ऋष्यमूक पर्वत पर रहता था। एक दिन उसने श्रीराम से कहा—"महाराज, मैं आपकी सेवा करने के लिये सब तरह से तैयार हूँ, पर अभी आपको मेरा हाल अच्छी तरह से मालूम नहीं है। मेरे बड़े भाई बालि ने मेरा सब राज-पाट छीन लिया है। मैं बेपर का हो रहा हूँ। हाथ में शक्ति है नहीं; मैं क्या कर सकता हूँ? बालि का डर मुझे चैन नहीं लेने देता। यदि आप मेरी कुछ सहायता करें, तो मेरा भी काम बने, आपका भी काम बने।" इसके बाद सुग्रीव ने अपना सब दुःख-कथा रामचंद्रजी से कह सुनाई। तब श्रीरामचंद्रजी उसकी सहायता करने को तैयार हो गए। उन्होंने बालि को मारकर सुग्रीव को किष्किंधा का राजा बना दिया। सुग्रीव के दिन चैन से कटने लगे। वह आनंद से राजधानी में रहने लगा, और अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर एक तरह से श्रीराम के काम की बात ही भूल गया। अस्तु।

श्रीराम पिता की आज्ञा मानकर वन आए थे, यद्दि वे

नगर में जाते, तो पिता की आज्ञा भंग होती, इसलिये वे लक्ष्मण के साथ नगर के बाहर पर्वत पर ही रहे। धीरे-धीरे बहुत समय बीत गया, पर सुग्रीव ने उनके काम की चर्चा भी न चलाई। श्रीराम बड़े धैर्यवान् थे, सोचते रहे, सुग्रीव मेरा काम अब करेगा—अब करेगा। पर जब उसे बिलकुल ही चुप देखा, तब उन्होंने एक दिन लक्ष्मणजी से कहा—

"वर्षा विगत शरद ऋतु आई;
सुधि न तात सीता की पाई।
एक बार कैसेउ सुधि पावौं;
कालहु जीति निमिष महँ ल्यावौं।
कतहुँ रहै जो जीवित होई;
तात यतन करि आनौं सोई।
सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी;
पावा राज, कोष, पुर, नारी।
जेहि शायक मैं मारा बाली;
तेहि शर हतौं मूढ़ कहँ काली।"

इस पर लक्ष्मणजी को बड़ा क्रोध आया, आँखें लाल हो आईं, भुजाएँ फड़क उठीं। बिगड़कर बोले—"मैं अभी जाकर उस कृतघ्न को देखता हूँ!" उनका यह हाल देख श्रीराम ने उनसे बड़े प्रेम से कहा—"भाई, क्रोध करने का क्या काम? सुग्रीव हमारा मित्र ही तो है, उससे जो कुछ कहना, प्रेम ही से कहना।"

भाई की आज्ञा मानकर लक्ष्मणजी सुग्रीव के पास पहुँचे। वहाँ पहुँचते-पहुँचते लक्ष्मणजी को फिर क्रोध आ गया। उस समय वे साक्षात् क्रोध की मूर्ति हो रहे थे। उनका वह रूप देखते ही सुग्रीव के मित्रों के होश जाते रहे, क्योंकि वे दोनों भाइयों की वीरता अच्छी तरह जान चुके थे। परंतु हनुमान्-जी ठहरे चतुर, उन्होंने बड़ी नम्रता से चिकनी-चुपड़ी बातें कर लक्ष्मणजी का क्रोध शांत किया। इसके बाद सुग्रीव अपने प्रधान-प्रधान मित्रों के साथ रामचंद्रजी के पास आया। उसने बड़ी नम्रता से श्रीराम से अपनी भूल की क्षमा माँगी। तब—

"तब रघुपति बोले मुसकाई ;
तुम प्रिय मोहिं भरत की नाई ।
अब सोइ जतन करहु मन लाई ;
जेहि विधि सीता की सुधि पाई ।"

श्रीराम का यह शांत-स्वभाव—यह प्रेम देख सुग्रीव ने लज्जा से सिर झुका लिया। इसके बाद सुग्रीव ने सीताजी का पता लगाने के लिये, अपने चतुर दूत चारों दिशाओं में भेज दिए और उन्हें आज्ञा दी कि यदि तुम लोग एक महीने के अंदर सीताजी का पता लगाकर न लौटे, तो मुझसे बुरा किसी को न पाओगे। हनुमान्, अंगद, नल, नील, जांबवान् आदि चतुर दूत दक्षिण दिशा की ओर चले। श्रीराम को इन्हीं लोगों से विशेष आशा थी। इनमें हनुमान्जी सबसे चतुर थे। इस-लिये श्रीराम ने उन्हें अपनी अँगूठी दी, और उनसे कहा—

"यदि आपको सीताजी मिलें, तो उन्हें मेरी यह अँगूठी दे दीजिए, इसे पाकर उन्हें ढाढ़स बँधेगा, और वे आप पर विश्वास भी करेंगी।"

ये सब लोग दल बाँधकर दक्षिण की ओर चले। उन्होंने वहाँ की अंगुल-अंगुल भूमि छान डाली, पर कहीं सीताजी का चिह्न तक न पाया। होते-होते वे समुद्र के किनारे तक जा पहुँचे, पर हाथ निराशा ही लगी। इधर महीना भी पूरा हो चला। अब तो सब लोग बहुत ही घबराए; सोचने लगे—"इतना परिश्रम किया, पर हाथ कुछ न आया। श्रीराम ने हम पर कितना विश्वास किया था, महाराज सुग्रीव को हम पर कितना अभिमान था, अब हम लौटकर उन्हें कैसे अपना मुँह दिखावेंगे?" ये लोग अभी इस उधेड़-बुन में थे ही कि वहाँ जटायु का भाई संपाति आ पहुँचा। सब हाल सुनकर उसने कहा—"आप लोग इतने हताश क्यों होते हैं? उद्योग कीजिए, उद्योग करने से क्या नहीं हो सकता? यहाँ से बारह कोस की दूरी पर लंका नाम का एक सुंदर द्वीप है, बस, वहीं रावण रहता है। आप लोग एक बार वहाँ अवश्य जाइए, शायद सीताजी का पता लग जाय।"

इतना कहकर संपाति तो चला गया, पर अब ये लोग इस उधेड़-बुन में पड़े कि इतना लंबा समुद्र कैसे पार किया जाय? यदि नाव तैयार की जाती है, तो इसी में बहुत समय निकल जायगा। सभी ने समुद्र पार करने में असमर्थता प्रकट की, तब

हनुमान्जी झुँझलाकर बोले—"अच्छा है, कोई न जाओ, सब यहीं पड़े-पड़े आराम करो, पर मैं तो जाऊँगा, भगवान् की जो इच्छा होगी, वही होगा।" इतना कहकर हनुमान्जी समुद्र में कूद पड़े।

इतना कहकर हनुमान्जी समुद्र में कूद पड़े।

रास्ते में उन्हें बड़ा ही क्लेश उठाना पड़ा, पर वे ज्यों-त्यों समुद्र पार कर लंका में जा ही पहुँचे।

अब हनुमान्‌जी के सामने दूसरी कठिनाई आई। एक तो वह चारों ओर समुद्री खाईं से घिरी हुई थी; दूसरे उसके चारों ओर सोने का ख़ूब मज़बूत और ऊँचा कोट घिरा हुआ था। नगर में जाने के लिये चारों ओर चार बड़े-बड़े फाटक बने हुए थे, उसके बुर्जों पर सैकड़ों तोपें लगी हुई थीं, और सैकड़ों भीमकाय राक्षस यहाँ-वहाँ घूम-घूमकर पहरा दे रहे थे। इतने लोगों की नज़र बचाकर, एक बिना जान-पहचान के आदमी का नगर में चला जाना सरल नहीं था। पर चतुर हनुमान्‌जी ने तुरंत एक युक्ति ढूँढ़ निकाली। वे दिन-भर एक जगह छिपे रहे, और संध्या होते ही, भेष बदल राक्षसों की नज़र बचा नगर में जा पहुँचे।

लंकापुरी बड़ी ही सुंदर थी। उसकी शोभा देख हनुमान्‌जी की बुद्धि हैरान हो गई। उसके मकान इतने ऊँचे थे कि उनकी चोटियाँ आकाश से बातें करती थीं, इतने पर भी वे चाँदी के समान चमकते थे। प्रत्येक मकान में सोने के खंभे और कलसे लगे हुए थे। बिजली के उजाले में वे जगर-मगर हो रहे थे, उनकी शोभा देखते ही बनती थी। वहाँ बड़े-बड़े सुंदर शिवालय बने हुए थे, कहीं फूल-मंदिर थे, तो कहीं चित्र-शालाएँ और कहीं आमोद-प्रमोद के लिये खेल-घर या नाटक-गृह। सड़कें बड़ी-बड़ी चौड़ी और बिलकुल स्वच्छ थीं; वे कहीं चंदन, कहीं

केवड़े और कहीं गुलाब से सींची गई थीं। जहाँ-तहाँ सुंदर-सुंदर बगीचे और सरोवर बने हुए थे, और सैकड़ों नर-नारी आनंद से उनकी बहार लूट रहे थे। त्रिकूट पर्वत की ऊँची चोटी पर बसी होने के कारण लंकापुरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो आकाश को उड़ी जा रही हो। लंका की यह मनभावनी शोभा देखते हुए हनुमान्जी सीताजी का पता लगाते हुए यहाँ-वहाँ घूमने लगे।

हनुमान्जी ने प्रायः सारी लंकापुरी छान डाली, पर उन्हें कहीं सीताजी के दर्शन न हुए। तब तो उन्हें बड़ी ही निराशा हुई। क्या इतना परिश्रम व्यर्थ जायगा—यही सोचते-सोचते वे एक सुंदर मकान के सामने जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उनका जी आप-से-आप प्रसन्न हो उठा। तब वे बेखटके उस मकान के अंदर जा पहुँचे। वहाँ चारों ओर भगवान् का नाम लिखा हुआ था। हनुमान्जी को ऐसा मालूम हुआ, मानो मैं किसी पुण्यात्मा भक्त के आश्रम में आ पहुँचा हूँ। उनके मुँह से एकाएक निकल पड़ा—

"लंका निशिचर-निकर निवासा ;
यहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ?"

सामनेवाले कमरे में एक महाशय सो रहे थे, हनुमान्जी के शब्द सुन एकाएक उनकी नींद टूट गई। उन्होंने हनुमान्जी से पूछा—"महाशय, आप कौन हैं, जो इस समय बिना सूचना के ही इधर पधार रहे हैं? यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो

कृपाकर अपना परिचय दीजिए।" हनुमान्‌जी ने सोचा—यह भगवान् का भक्त है, इसे अपना हाल सुना देने से कोई हानि नहीं हो सकती। बस, उन्होंने उन्हें अपना सब हाल सुना दिया। तब वे हनुमान्‌जी का आदर करते हुए बोले—"अहा! आप बड़े ही सज्जन, बड़े ही परोपकारी हैं। मैं अभागा रावण का भाई हूँ—विभीषण मेरा नाम है। रावण हो सीताजी को हर लाया है। मैंने उसे कितना समझाया, पर वह मानता ही नहीं। आपने बड़ी कृपा की, जो कष्ट उठाकर यहाँ तक आए। आप शीघ्र ही सीताजी के पास जाइए और उन्हें श्रीराम का कुशल-समाचार सुनाइए। उनके दिन बड़े कष्ट से बीत रहे हैं।" विभीषण ने उन्हें सीताजी का पता बतला दिया। तब हनुमान्‌जी उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देकर अशोक-वाटिका की ओर चले।

उस समय सीताजी के चारों ओर कई राक्षसियाँ बैठी हुई थीं।

देवी सीता की दशा बहुत बुरी हो रही थी। पति-वियोग में उनका शरीर तिल-तिल करके घुल रहा था। वे रात-दिन पति के ध्यान में डूबी रहती थीं। न उनको दिन को भोजन अच्छा लगता था, न रात को नींद ही आती थी। शरीर सूखकर काँटा हो गया था! फिर भी उनके मुखड़े पर वही अपूर्व तेज था—उनके मुखड़े से तेज की किरणें निकलकर अशोक-वाटिका के प्रकाश को दूना कर रही थीं। उन्हें देखती ही हनुमान्‌जी

समझ गए कि ये ही माता सीता हैं। भगवान् राम ने जो रूप-रंग बताया था, वही है। इनका पता तो लग गया, अब इनसे बातें कैसे करूँ? यही सोचते-सोचते हनुमान्‌जी एक घने वृक्ष पर चढ़ गए, और उसके पत्तों में छिपकर बैठ रहे।

राक्षसियाँ तरह-तरह की बातें करके सीताजी को धमका-फुसला रही थीं। सीताजी चुपचाप उनकी बातें सुन रही थीं। जब उनसे उनकी बातें और न सही गईं, तब वे विलाप करने लगीं—"हाय! प्राणनाथ! तुम कहाँ हो। क्या तुम्हें अभी तक मेरी सुधि नहीं मिली? हा! कौशल्यानंदन तो महावीर हैं—उन्हें मेरी सुधि मिली होती, तो क्या वे अब तक शांत रहते! कभी के यहाँ आ पहुँचते और मेरा दुःख हर लेते। हाय! मेरे वियोग में उनकी क्या दशा होगी—वन-वन भटकते फिरते होंगे और उनके साथ महावीर लक्ष्मण भी आकुल-व्याकुल होते होंगे। हाय! यह आपत्ति मैंने ही सिर ले ली! उस दिन मेरी बुद्धि न-जाने कहाँ चली गई थी। लक्ष्मण ने मुझे कितना समझाया था, पर मैंने उनकी एक न सुनी! विधाता ने उसी का मुझे यह दंड दिया। हा प्राण! तुम वज्र के हो रहे हो। क्यों नहीं यह छाती फोड़कर निकल जाते। और कब तक इस तरह रुलाओगे। हाय! प्राणनाथ, अब तुम्हारे पवित्र दर्शन कहाँ पाऊँगी?"

इस प्रकार सीताजी बहुत देर तक विलाप करती रहीं। जब से रावण उन्हें हर लाया था, तब से उनकी दशा बड़ी

ही दयनीय हो रही थी। कभी वे रोने लगती थीं, कभी बैठे-बैठे जाने क्या सोचने लगती और आप-ही-आप बातें-सी करने लगती थीं और कभी-कभी पागलों की नाईं धूल में ही लोटने लगती थीं ! अस्तु ।

सीताजी के विलाप पर राक्षसियाँ हँसने लगीं, और कोई-कोई उन्हें ज़ोर-ज़ोर से धमकाने लगीं। पर उन राक्षसियों में त्रिजटा नाम की एक राक्षसी बड़ी दयावती थी। सीताजी के विलाप से उसका हृदय भर आया। उसने सब राक्षसियों से कहा—"बहनो ! मेरी बात मानो, अब इन्हें सताना छोड़ दो। देखती नहीं, ये देवी हैं ! ऐसी पतिव्रता देवी और भी कभी देखी है ! रावण आज तक न-जाने कितनी स्त्रियों को वश में कर चुका है, पर इन पर उसकी एक भी माया न चली। ऐसी देवी की सेवा करके हमें अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिए। मैंने कल रात को एक बड़ा बुरा सपना देखा है। रावण को श्रीराम ने मार डाला है और सारा संसार सीताजी की पूजा कर रहा है। इसलिये अब इन्हें न सताओ, इनसे अपने अपराध की क्षमा माँगो।"

"महाप्रतापी रावण को, जिनसे मृत्यु भी थर-थर काँपती है, उसे ज़रा से राम ने मार डाला !" यह कह राक्षसियाँ हो-हो करके हँस पड़ीं। इसी समय सारी वाटिका जगर-मगर हो उठी। सब राक्षसियाँ सँभलकर खड़ी हो गईं। राक्षस-राज रावण अनेक स्त्रियों से घिरा हुआ सीताजी की ओर आ रहा था।

उसे देखते ही सीताजी मारे भय के काँप उठीं। वे सिमिटकर एक ओर बैठ रहीं। उनके नेत्रों से झर-झर आँसू बहने लगे।

रावण उनके पास आकर खड़ा हो गया। वह उनसे मीठी-मीठी बातें करने लगा, उन्हें तरह-तरह के लोभ दिखलाने लगा। पर सीताजी इस प्रकार बैठी रहीं, मानो उन्होंने उसकी कोई बात सुनी ही नहीं। तब रावण बड़ी ही मधुरता से बोला—"हे सीता! तुम मुझे देखकर क्यों इस प्रकार डर जाती हो? मैं तो तुम्हें हृदय से प्यार करता हूँ, मैं तो तुम्हारे प्रेम का भिखारी हूँ? जब देखो, तब तुम उसी राम के ध्यान में बैठी रहती हो। कैसे पागलपन की बात है। क्या तुम मेरा वैभव नहीं देखती? तुम्हारा वह राम तो मेरे एक सेवक की भी बराबरी नहीं कर सकता। सच मानो; मैं जितना प्यार करना जानता हूँ, राम उसका आधा भी न जानता होगा। यहाँ तो रोम-रोम में तुम्हारी मूर्ति समा रही है। मैं तुम पर अपने को, अपने इस राज्य को, अपने इस सारे वैभव को हँसते-हँसते निछावर कर सकता हूँ। तुम्हें मुझ पर प्रसन्न होना चाहिए, तुम्हें मेरा आदर करना चाहिए। यह तुम्हारा सौभाग्य है कि मैं तुम पर अनुरक्त हूँ। हाय! तुम्हें धूल में लोटती देख मेरी छाती फटने लगती है। वह शुभ दिन कब देखूँगा, जब......"

रावण की बातें सुन सीताजी का डर जाता रहा, उनका मुखड़ा मारे क्रोध के तमतमा उठा। वे मुँह फेर, उसकी बात काटती हुई

बोलीं—"बस! बस! चुप रह! तू मुझे पाने की आशा छोड़ दे। जिस प्रकार पापी मनुष्य को मुक्ति नहीं मिलसकती, उसी प्रकार मैं भी तुझे नहीं मिलने की। मैं धर्म-वीर दशरथ की पुत्र-वधू हूँ। सत्यवीर श्रीराम की साध्वी स्त्री हूँ। अपना यह लोभ व अपना यह प्रेम, अपना यह बड़प्पन किसी और को दिखलाना! यहाँ तो मैं स्वर्ग की सारी विभूतियों को भी पतिदेव की चरण-रज में पाती हूँ। तू हमारे राम की निंदा करता और अपनी वीरता की डींग मारता है; पर जब तेरी इस लंका में उनके धनुष की प्रलयकारिणी टंकार होगी, तब तेरी वीरता देखूँगी। अब भी कहना मान जा, अपनी भलाई चाहता हो, तो सँभल जा, मैं अग्नि हूँ—मुझसे खेलने की चेष्टा न कर।"

सीताजी की इन बातों से रावण को क्रोध तो आया, पर वह उसे मन में ही दबाकर बोला—"देवि! यद्यपि तुम्हारे ये शब्द-बाण मेरे हृदय को चलनी बना डालते हैं, तो भी क्या करूँ, मैं तुम पर मोहित हूँ—बहुत मोहित हूँ! तुम्हारी इस फट-कार में भी मुझे एक प्रकार का आनंद ही मिलता है। इसी से मैं तुम्हारा आदर करता हूँ, नहीं तो रावण का अपमान कौन कर सकता है? यदि मैं तुम पर मोहित न होता, तो कभी का तुम्हें तलवार के घाट उतार देता।"

इस पर सीताजी ने सिंहिनी के समान गरजकर उत्तर दिया—"हे राक्षस! तू मारने की धमकी किसे देता है? यहाँ तो पहले से ही मरने के लिये तैयार बैठी हूँ! यह शरीर जड़

है, इसे चाहे तू बाँध—चाहे मार ! मुझे मरने से रत्ती-भर भी डर नहीं है, मुझे प्राणों का रत्ती-भर भी मोह नहीं है। पर तू हज़ार चाहने पर भी मेरे धर्म का एक कण भी न पा सकेगा ! मेरा सती-धर्म कभी नष्ट न होगा। धर्म के सामने इस मिट्टी का मूल्य ही क्या ? तू अभी इसे नष्ट कर दे।"

अब तो रावण का क्रोध और भी बढ़ गया। बादल के समान गरजकर बोला—"आह ! पगली ! तू इतनी धर्मात्मा है। मेरा नाम रावण नहीं, जो मैं तेरे धर्म का धूल में न मिला दूँ। देखूँगा, तू कितनी धर्मात्मा है, कैसी मरनेवाली है ! राक्षसियो इसे ख़ूब सताओ, धुला-धुलाकर मारो !"

इस पर सीताजी को और भी क्रोध आया। रावण की गीदड़-भभकी का उनपर रत्ती-भर भी प्रभाव न पड़ा। उन्होंने उसे ख़ूब ही फटकारा, तब तो वह अपना-सा मुँह ले चुपचाप चला गया। उसके जाते ही सब राक्षसियाँ जहाँ-तहाँ जा सोईं, केवल त्रिजटा जागती रही। सीताजी राम की याद करके बिलख-बिलखकर रोने लगीं। तब त्रिजटा ने उन्हें भाँति-भाँति से समझाया। उसके ढाढ़स देने से सीताजी का जी कुछ शांत हुआ। रात बहुत जा चुकी थी, इसलिये त्रिजटा भी सो रही।

सन्नाटे की सुनसान रात, न कोई बोलने बतानेवाला, सीताजी की शोक-ज्वाला फिर भभक उठी। वे फिर विलाप करने लगीं—"हाय रे दुर्भाग्य! मैं अशोक-वाटिका में हूँ फिर भी दुःखी हूँ ! हे अशोक ! मेरा दुःख दूर करके अपने नाम की लाज बचाओ।

हे तारे ! तुम आकाश में खड़े-खड़े मेरा दुःख देखकर हँस रहे हो, तुम्हीं कृपाकर मुझ पर थोड़ी-सी आग की चिनगारियाँ बरसा दो। हाय ! कौशल्यानंदन अब तक मेरा उद्धार करने नहीं आए ! अब उनके आने की आशा ही क्या। आते तो अब तक आ न जाते। तब मेरी इस दुःखाग्नि को कौन शांत करेगा ? ;मेरी धर्म-नौका को कौन पार लगावेगा ? मेरा यह अनंत कष्ट कौन दूर करेगा ? अब तो आत्म-हत्या करना ही भला है। पर शास्त्रों में आत्म-हत्या घोर पाप बतलाई गई है ! तब क्या मैं राक्षस के चंगुल में पड़ी-पड़ी यह घोर कष्ट सहती रहूँ। नहीं-नहीं, मैं आत्म-हत्या अवश्य करूँगी ! धर्म-रक्षा के लिये, सतीत्व-रक्षा के लिये आत्म-हत्या करने में पाप नहीं पुण्य है और नहीं, तो राक्षस के चंगुल से तो छूट जाऊँगी—उसका पाप-वासना से भरा हुआ मुँह तो न देखूँगी—उसकी पाप से सनी हुई बातें तो न सुनूँगी।"

अब सीताजी आत्म-हत्या करने की चेष्टा करने लगीं। वे उसी शीशम के पेड़ के नीचे पहुँचीं, जिस पर हनुमान्‌जी छिपे बैठे थे, और अपनी धोती के अंचल से एक डाली में फंदा लगाने लगीं। सीताजी की दशा देख हनुमान्‌जी का हृयद पहले से ही उमड़ रहा था, अब उन्हें आत्म-हत्या की चेष्टा करते देख वे और भी घबरा उठे। सोचने लगे—बड़े परिश्रम से तो यहाँ तक आ सका हूँ, और कहीं इन्होंने प्राण त्याग दिए, तो बना-बनाया खेल बिगड़ जायगा, सारे परिश्रम

पर पानी फिर जायगा। इसलिये इन्हें शीघ्र ही श्रीराम का कुशल-समाचार सुनाना चाहिए। उन्होंने शीघ्र ही कहा—"श्रीराम की जय !"

ये मीठे शब्द सुनते ही सीताजी चौंक उठीं। सोचने लगीं—यह मधुर ध्वनि कहाँ से आई? इस पिशाचपुरी में कौन राम-भक्त है? कहीं मैं ही तो सपने में नहीं हूँ? इतने में उन्हें फिर सुन पड़ा—"श्रीराम की जय !" मानो सूखते हुए धान के खेत में जल-धारा बरस पड़ी। सीताजी डबाबाई आँखों से इधर-उधर ताकने लगीं, इतने में उनकी दृष्टि वृक्ष की डाल पर बैठे हुए हनुमान्जी पर पड़ी। हनुमान्जी ने फिर कहा—"श्रीराम की जय।" आशा के प्रकाश से सीताजी का मुखड़ा चमक उठा, पर शीघ्र ही उस पर फिर वही कालिमा, वही उदासी छा गई। मारे भय के वे सहसा काँप उठीं। उन्होंने बड़े साहस से हनुमान्जी से पूछा—"तुम कौन हो?"

सीताजी का यह प्रश्न सुनते ही हनुमान्जी नीचे उतर आए, और हाथ जोड़, उनसे बड़ी नम्रता से बोले—

"राम-दूत मैं मातु जानकी ;
सत्य शपथ करुणानिधान की।"

यह सुनकर सीताजी कुछ न कह सकीं। वे मन-ही-मन सोचने लगीं—क्या मैं सपना देख रही हूँ? यह छोटा-सा आदमी उस भारी समुद्र को पारकर—रावण के इतने कड़े प्रबंध को विफल कर यहाँ तक कैसे आ पहुँचा! क्या यह भी

रावण की कोई माया है ? यह रावण का ही दूत तो नहीं है ? फिर इसने मुझे 'माता' क्यों कहा ? रावण का मायावी दूत मुझे 'माता' कहता ही क्यों ? क्या जाने, यह कौशल्या-नंदन का ही दूत हो । तब उन्होंने हनुमान्‌जी से कहा—"बेटा ! तुम कौन हो ? उस भारी समुद्र को पारकर यहाँ तक कैसे आए ? अपना सच-सच हाल सुनाओ ।"

तब सीताजी को संदेहाकुल देख हनुमान्‌जी बोले—

"यह मुद्रिका मातु मैं आनी ;
दीन्ह राम तुम कहँ सहि जानी ।"

हनुमान्‌जी ने वह अँगूठी बड़े आदर से सीताजी को दी, और उन्हें श्रीराम का सब समाचार सुना दिया ।

पूज्य पति की वह अँगूठी देखते ही सीताजी का सब संदेह जाता रहा । आनंद से उनका हृदय पुलक उठा । डूबते को तिनके का सहारा—सीताजी को अपने पूर्व-जीवन की एक-एक करके सारी बातें याद हो आईं । तब उनकी आँखें डब-डबा आईं । उन्होंने अँगूठी आँखों से लगा ली और हनुमान्‌जी से पूछा—"वत्स ! आर्यपुत्र कुशल से तो हैं ?" हनुमान्‌जी बोले—"माता ! उनकी कुशल की बात क्या पूछती हो ! आपको खोकर क्या वे सुखी रह सकते हैं ? समुद्र के समान गंभीर श्रीराम आपके विरह से पागल-जैसे हो उठे हैं ! आप के विरह में, फूलों की सुगंध, शीतल चंदन और चंद्रमा की अमृतमय किरणें भी उन्हें दुःखदायी हो रहीं हैं ! न उन्हें

आराम की चिंता है, न भोजन का ध्यान, केवल आपकी चिंता में ही उनका सारा समय बीतता है।"

"हा आर्यपुत्र ! मैं कैसी अभागिनी हूँ ! वन में आपकी सेवा करने आई थी और आपके दुःख का कारण बन बैठी !" यह कहकर सीताजी बिलख-बिलखकर रोने लगीं। तब हनुमान्जी ने उनसे कहा—"माता, आप इतनी दुःखित न हों ! यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं अभी आपको पीठ पर चढ़ाकर श्रीराम के पास ले चलूँ।" पर, सीताजी पूर्ण पतिव्रता थीं, पर-पुरुष का छूना भी उनकी दृष्टि में पाप था, दूसरे उन्हें राक्षसों का भी डर था, इसलिये वे चुप ही रहीं।

चतुर हनुमान्जी उनके मन की बात भाँप गए, बोले—"अच्छा मा ! मैं जाकर श्रीराम को आपका सब हाल सुना दूँगा। अब आप विशेष चिंता न कीजिए। वह दिन दूर नहीं है, जब सारी लंकापुरी में युद्ध की आग जल उठेगी और सोने की यह लंका धूल में मिल जायगी। श्रीराम के लिये वहाँ एक-एक पल युग के समान बीत रहा है। अब मैं शीघ्र ही जाऊँगा।" इस पर सीताजी प्रसन्न होकर बोलीं—"अच्छा बेटा ! जाओ। तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो। भगवान् तुम्हें चिरजीवी करें।"

तब हनुमान्जी उनसे हाथ जोड़कर बोले—

"मातु मोहिं दीजै कछु चीन्हा।
जैसे रघुनायक मोहिं दीन्हा।"

सीताजी को भी यह बात पसंद आई। उन्होंने—

चूड़ामनि उतार तब दीन्हा ;
हर्ष-समेत पवन-सुत लीन्हा।

और कहा—

"कहेउ तात अस मोर प्रनामा ;
सब प्रकार प्रभु पूरन कामा।
दीनदयाल बिरद संहारी ;
हरहु नाथ मम संकट भारी।
मास-दिवस महँ नाथ न आवहिं ;
तौ पुनि मोहिं जियत नहिं पावहिं।
तुमहिं देखि सीतल भइ छाती ;
पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती।"

हनुमान्‌जी सीताजी को भाँति-भाँति से समझाकर चले गए। रास्ते में उन्होंने सोचा—यहाँ से चलता तो हूँ ही, एक दिन रावण से युद्ध भी अवश्य होगा ; तब राक्षसों का बल भी देखता चलूँ, हर्ज क्या है। बस, वे रावण के सुंदर बग़ीचे में जा घुसे, और लगे ऊधम मचाने। उन्होंने कितने ही सुंदर और हरे-भरे वृक्ष तोड़ डाले। बग़ीचे के कई रखवाले भी मार डाले। बाक़ी रखवाले रोते-पीटते रावण के पास पहुँचे। रावण उन पर बहुत अप्रसन्न हुआ। उसने हनुमान्‌ज को पकड़ने के लिये कई राक्षस भेज दिए। पर हनुमान्‌जी ने उन सबको—किसी को पटककर और किसी को लात-घूँसों से

उन्होंने कितने ही सुंदर और हरे-भरे वृक्ष तोड़ डाले (पृष्ठ १६२

ठिकाने लगा दिया। हनुमानजी का यह उपद्रव सुन रावण को बड़ा अचरज हुआ। लंका में यह कौन वीर आ पहुँचा ?

उसने अब की बार अपने वीर पुत्र अक्षयकुमार को भेजा। अक्षयकुमार बहुत-से राक्षस लेकर हनुमान्‌जी को पकड़ने को आया, पर हनुमान्‌जी ने उन सबके साथ अक्षयकुमार को भी मार गिराया।

रावण ने यह सुना, तो मारे क्रोध के झल्ला उठा। उसने इस बार अपने महा बली पुत्र मेघनाद से कहा—"बेटा! ज़रा जाकर उस वीर को देखो तो, पर उसे मारना नहीं, मेरे सामने ले आना, मैं भी एक बार उसे देखना चाहता हूँ।" मेघनाद दल-बल-समेत हनुमान्‌जी के सामने पहुँचा। ख़ूब युद्ध हुआ। अंत में बड़ी कठिनाई से मेघनाद ने हनुमान्‌जी को पकड़ पाया। वह उन्हें बाँधकर रावण के दरबार में ले गया।

हनुमान्‌जी का विचित्र रूप देखकर रावण को दिल्लगी की सूझी। उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी—"इस बंदर की पूँछ में बहुत-से कपड़े लपेट, तेल डाल, आग लगा दो। जब यह 'हाय-हाय' करता हुआ उछलता-कूदता फिरेगा, तब बड़ा मज़ा रहेगा।" राक्षसों ने ऐसा ही किया। अब हनुमान्‌जी जलती हुई पूँछ उठाकर सारे दरबार में नाचने लगे। उस समय दरबार में जितने राक्षस बैठे थे, उन सबके कपड़ों में आग लग गई। बेचारे अपनी दाढ़ी-मूँछ की आग बुझाते हुए यहाँ-वहाँ भागने लगे। इसके बाद हनुमान्‌जी वह मशाल-सी पूँछ उठाकर सारी लंका में चक्कर काटने लगे। वे जहाँ को जाते, वहीं हाहाकार मच जाता। यहाँ तक कि थोड़ी ही देर में लंका

के कई सुंदर-सुंदर सजे सजाए महल धू-धू करके जलने लगे। चारो ओर कुहराम मच गया। इस मूर्खता के लिये सभी रावण को मन-ही-मन कोसने लगे।

उधर अशोक-वाटिका में सीताजी ने राक्षसों को वह चिल्लाहट सुनी, अग्नि की भयंकर लपटों पर भी उनकी दृष्टि पड़ी। यह हलचल देखकर वे बहुत ही डर गईं। इतने में ही वहाँ सरमा आ पहुँची। सीताजी ने उससे पूछा—"बहन! लंका में यह कैसा हल्ला मच रहा है? आग की ये भयंकर लपटें क्यों उठ रही हैं? किन दुखियों के ऊपर यह आपत्ति आई है?" सरमा बोली—"देवि! और क्या होगा। रावण के पाप का ही यह थोड़ा-सा परिणाम है। अभी और न-जाने क्या होनेवाला है।" उसने सीताजी को सब हाल सुना दिया।

अब तो सीताजी हनुमान्जी के लिये बहुत ही चिंतित हुईं उनकी आँखों में आँसू छलछला आए।

तब सरमा ने कहा—"देवि! तुम हनुमान् के लिये चिंता न करो। वे बड़े ही वीर हैं। उनकी वीरता से लका में भय छा गया है। आग लगाते ही वे शीघ्रता से समुद्र की ओर चले गए। किसी का भी साहस न हुआ कि उनकी ओर हाथ तो उठाता।"

यह सुनकर सीताजी की चिंता दूर हुई।

लंका पर चढ़ाई

धीरे-धीरे एक महीना बीत गया। एक-एक करके सभी दूत लौट आए, पर सीताजी का पता कोई न लाया। श्रीराम के मुखड़े पर मुर्दनी छा गई। वे निराश होकर ठंढी साँसें भरने लगे। उनकी दशा देख लक्ष्मणजी तथा अन्य मित्रों को बड़ा दुःख हुआ। परंतु इस निराशा में भी सभी के मन में आशा की क्षीण ज्योति टिमटिमा रही थी। हनुमान्जी अब तक लौटकर नहीं आए थे, सब दूतों में वे ही अधिक चतुर भी थे। अब सब की आशा उन्हीं पर टिक रही थी। वे सोचते थे, हनुमान्जी अब तक नहीं आए, बहुत करके वे सीताजी का पता लगाकर ही लौटेंगे! कभी सोचने लगते थे, कहीं वे आपत्ति में तो नहीं फँस गए, नहीं तो अब तक लौट न आते! इसी तरह आशा-निराशा के झोंके खाते हुए सभी बड़ी उकताहट से दिन बिता रहे थे।

अंत में हनुमान्जी आए। सभी बड़ी आशा से उनकी ओर ताकने लगे। हनुमान्जी ने दूर से ही 'श्रीराम की जय' कहकर किलकारी मारी। सब के मुखड़े प्रसन्न हो उठे—उदासी जाती रही। इतने में हनुमान्जी श्रीराम के पास आ पहुँचे। तब श्रीराम ने हड़बड़ाकर उनसे पूछा—"कहो हनुमान्! सीता की कुछ खबर लाए?" तब हनुमान्जी ने सीताजी का दिया

हुआ चूणामणि उनके हाथ पर रख दिया। उसे देखकर श्रीराम का हृदय भर आया, आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने हनुमान्जी से पूछा—"हनुमान्! तुमने मेरी सीता को किस दशा में देखा? मेरा हाल सुनकर उन्होंने क्या कहा?" इस पर हनुमान्जी ने उन्हें अपनी यात्रा का पूरा-पूरा हाल सुना दिया। सीताजी की दीन-दशा का समाचार सुन राम-लक्ष्मण रो उठे। हनुमान्जी भी अपने को न सँभाल सके। तब श्रीराम ने उनसे कहा—"भाई, तुमने सीता का संदेश सुनाकर मेरे मृत-शरीर में जान डाल दी है। तुम मेरे प्यारे मित्र हो, मुझे भाई से भी बढ़कर प्यारे हो। मुझ वनवासी के पास क्या रक्खा है, जो तुम्हें कुछ पुरस्कार दूँ। आओ, तुम्हें जलती हुई छाती से लगा लूँ।" यह कहकर उन्होंने हनुमान्जी को हृदय से लगा लिया। श्रीराम का यह प्यार देख हनुमान्जी ने अपने को धन्य समझा। उन्होंने उनसे बड़ी नम्रता कहा—"नाथ! न मैं आपका मित्र हूँ, न भाई। मैं तो आपका एक तुच्छ सेवक हूँ, और पुरस्कार में केवल आपका स्नेह चाहता हूँ।" इस पर श्रीराम ने उन्हें पुनः हृदय से लगा लिया।

अब क्या था, सुग्रीव ने तुरंत अपने सेनापति को बुलाया, और श्रीराम की सम्मति से उसे आज्ञा दी—"बड़ी ही उत्तमता से लंका पर चढ़ाई करने की तैयारी करो।" इधर सेना मानो पहले से ही लंका-यात्रा की बाट जोह रही थी। आज्ञा पाते ही सब वीर अपनी-अपनी तैयारी करने लगे। हनुमान्, अंगद, जाम्बवान्,

नल, नील, आदि वीर बड़े ही उत्साह से युद्ध-सामग्री जुटाने लगे। भरती खोल दी गई, दल-के-दल मतवाले वीर श्रीराम के झंडे के नीचे जमा होने लगे। ढेर-के-ढेर हथियार—धनुष, बाण, कृपाण, तलवार, भाले आदि इकट्ठे हो गए। रसद के पहाड़ जमा हो गए। जब सब तैयारी हो चुकी, तब वह भारी राम-दल बड़े उत्साह से झूमता-झामता, 'श्रीराम की जय' बोलता हुआ, दक्षिण दिशा की ओर चला। थोड़े ही दिन में श्रीराम का दल समुद्र-तट पर जा पहुँचा। इसी समय लंका में रावण के दुर्भाग्य ने एक नई लीला प्रारंभ की, जिससे श्रीराम को अनायास ही लंका-विजय की कुंजी प्राप्त हो गई।

श्रीराम की सेना का आगमन सुनते ही लंका-भर में हल-चल मच गई। रावण की छाती धड़क उठी। वह बड़े सोच-विचार में पड़ गया। उसकी पत्नी मंदोदरी बड़ी ही गुणवती, बुद्धिमती और विचारशीला थी। उसने रावण से कहा—"नाथ! जबसे आप सीता को हर लाए हैं, तबसे मैं बराबर अपशकुन देखती आती हूँ। जब देखो, तब मेरी दाहिनी आँख फड़कती रहती है—हृदय पर एक बोझ-सा रक्खा रहता है। पर-स्त्री का हरण बड़ा ही पाप है। फिर सीता बड़ी ही तेजस्वी और पतिव्रता स्त्री है। मेरी तो राय यह है कि अब आप उसका हृदय और न दुखावें। श्रीराम से संधि कर उसे लौटा दीजिए। मुझे तो इसी में भलाई जान पड़ती है।"

रावण था एक ही हठी, उसके हृदय में जो बात जम जाती

थी, फिर न निकलती थी। उसने मुसकिराकर मंदोदरी को उत्तर दिया—"प्रिये ! तुम्हारा हृदय बड़ा ही कोमल है, तुम मुझसे बहुत ही स्नेह करती हो, इसीसे ज़रा-सा खटका होते ही बेचैन हो जाती हो। विशेष चिंता की कोई बात नहीं है। राम है किस खेत की मूली। उसकी मृत्यु ही उसे यहाँ तक खींच लाई है ! तुम आप ही देख लोगी।" मंदोदरी ने उसे कितना ही समझाया, पर उसने उसकी एक न सुनी।

रावण ने मंदोदरी की बात टाल तो दी, पर वह रात-भर इसी उधेड़-बुन में पड़ा रहा कि क्या करूँ, क्या न करूँ! सवेरा होते ही उसने दरबार किया, उसने सबसे पूछा कि अब क्या करना चाहिए ? उसके मामा माल्यवान् ने कहा—"मेरी राय तो यह है कि व्यर्थ की ख़ून-ख़राबी से हमें दूर ही रहना चाहिए। आप रामचंद्र से संधि कर लीजिए, और सीता को लौटा दीजिए। आपको स्त्रियों का टोटा नहीं है।" पर, राजा की हाँ-में-हाँ मिलानेवाले बहुत होते हैं। एक चापलूस मंत्री बोला—"होगा क्या ? राम की मृत्यु होगी, और सीता आपकी रानी बनेगी।" दूसरे मंत्री ने कहा—"जिसके बल से चंद्र-सूर्य थर्राते हैं, जिसके डर से देवताओं के प्राण काँपते हैं, उससे राम लड़ेगा। मूर्खता की हद हो गई।" तब तीसरा बोला—"राम की मृत्यु ही उसे यहाँ ले आई है ! हः हः।" रावण ने ये ठकुरसुहाती बातें सुनीं, तो फूलकर कुप्पा हो गया।

बेचारा विभीषण अब तक चुप बैठा था। मंत्रियों की ऐसी

बेसिर-पैर की बातें सुन उसका क्रोध भड़क उठा। उसने रावण से कहा—"भैया! इन चापलूसों की बातों में न पड़िए। मामा माल्यवान् की राय सोलह आना ठीक है। आप सरासर पाप करते हैं, और फिर भी विजय की आशा रखते हैं। सीताजी सच्ची पतिव्रता हैं, उन्हें आदर-पूर्वक श्रीराम के पास भेज दीजिए, इसी में लंका की कुशल है। क्या उस दिन आपने हनुमान् की करतूत नहीं देखी। एक ही वीर आपकी वाटिका को धूल में मिला और लंका को जला साफ़ निकल गया। सब राक्षस-वीर टुकुर-टुकुर देखते ही रह गए। जब राम-दल के वैसे-वैसे अगणित वीर लंका पर टूट पड़ेंगे, तब भगवान् जाने इसकी क्या दशा होगी। मेरी बात मान लीजिए, श्रीराम से वैर बिसाहना आपके लिये हानिकारक ही होगा।"

रावण अपनी वीरता के गर्व में ऐंठ रहा था। विभीषण की बातें सुन जलकर राख हो गया। गरजकर बोला—"तू वीरता की बातें क्या जाने! तू तो छुटपन से ही कायर है! तू कुल का कलंक है।" इतना ही नहीं, उसने भरी सभा में विभीषण को लात मार दी और उससे कहा—"तेरा मुँह देखने से भी मुझे क्रोध आता है। अपना भला चाहता हो, तो मेरे सामने से चला जा।"

इस अपमान से विभीषण को बड़ा ही क्लेश हुआ। वह बड़ा ही धर्मात्मा और भगवद्भक्त था। रावण की अनीति से बड़ा ही दुःख होता था। वह जब-तब अपमान सहता रहता

था, पर आज का अपमान उसे असह्य हो गया। वह फ़ौरन् दरबार से बाहर निकल गया, और अपने कुछ मित्रों के साथ श्रीराम के पास पहुँचा। श्रीराम ने उसका बड़ा आदर किया और उससे पूछा—"आप किस मतलब से यहाँ आए हैं ?"

विभीषण ने उन्हें बड़ी ही नम्रता से उत्तर दिया—"महाराज, मैं रावण के अधर्ममय-व्यवहार से ऊब उठा हूँ। इसी लिये आपकी शरण में आया हूँ। आप धर्म हैं, रावण पाप है। धर्म के सिवा जीव को दूसरी कौन गति है ? मुझे अपनी सेवा में रख लीजिए। मुझसे जैसी बन पड़ेगी, आपकी सेवा करूँगा।"

विभीषण की यह कातर-वाणी सुनकर श्रीराम ने उससे कहा—"प्रसन्नता की बात है कि आप न्याय और धर्म के पक्ष में हैं। मनुष्य का यह परम धर्म है कि वह न्याय और धर्म का सम्मान करे। यदि ऐसा करते समय उसे अपने प्रिय जनों से तिरस्कृत होना पड़े, उनसे उसे संबंध-विच्छेद भी करना पड़े, तो वह इसकी चिंता न करे। मैं केवल इसी उद्देश्य से यहाँ आया हूँ कि सती सीता का उद्धार करूँ और अन्यायी रावण को दंड दूँ। रावण के पतन के पश्चात् मैं लंका का राज्य आपको दे दूँगा, साम्राज्य-वृद्धि मेरा उद्देश्य नहीं है।"

श्रीराम की यह उदार वाणी सुन विभीषण पुलकित हो उठा। उसी दिन से वह निश्चिंत हो राम-दल में रहने लगा।

उसी दिन से वह श्रीराम का परम मित्र बन गया। दिनों-दिन दोनों का स्नेह बढ़ता गया। विभीषण ने राम को लंका का रत्ती-रत्ती भेद बतला दिया, जिससे उन्हें भविष्य में लंका-विजय करने में बड़ी सहायता मिली। अस्तु।

समुद्र-तट पर पहुँचने पर उस लहराते हुए विशाल समुद्र को देख राम-दल को बड़ी ही चिंता हुई थी, एक तरह से सभी की आशा पर पानी फिर गया था। सभी यही सोचते थे कि इस विशाल सागर को कैसे पार करेंगे? पर, राम-दल में नल और नील बड़े ही चतुर इंजीनियर थे। उन्होंने कहा—"इतना घबराने की आवश्यकता नहीं। हम समुद्र पार कर लंका में पहुँचेंगे। अभी देखिए, क्या होता है!" यह कह-कर उन्होंने समुद्र पर पुल बँधवाना शुरू कर दिया। नल-नील के अपूर्व बुद्धि-कौशल से थोड़े ही दिनों में समुद्र पर अच्छा-ख़ासा पुल बँध गया। अब क्या था, सब लोग हँसी-ख़ुशी-से समुद्र पारकर लंका में जा पहुँचे। यद्यपि समुद्र-रक्षक राक्षसों ने इस कार्य में बाधा अवश्य उपस्थित की, पर बेचारों को मुँह की खानी पड़ी। राम-दल की 'जय-ध्वनि' से लंका-पुरी गूँज उठी। श्रीराम की सेना ने लंका के चारों ओर घेरा डाल दिया और सभी मार्ग, सभी द्वार अपने अधिकार में कर लिए।

आसुरी माया

सीताजी यद्यपि अशोक-वाटिका में रहती थीं, तो भी उनकी अंतर्वेदना की सीमा न थी। रावण जब-तब वहाँ आता और भाँति-भाँति के घृणित एवं कटुवचन कहकर उनकी अंतर्वेदना को और भी धधका देता था। रावण की सेविकाएँ सीताजी की रखवाली करनेवाली राक्षसियाँ तो और भी गज़ब करती थीं। वे अपने अत्याचारों से मानो दुःखिनी सीता की शोकाग्नि में घृताहुति ही डाल देती थीं। परंतु लंकापुरी धर्म-प्राण आत्माओं से सर्वथा ही शून्य न थी। धर्मात्मा विभीषण की पत्नी सरमा और कन्या कला परम दुःखिनी सीताजी को सदा ही ढाढ़स बँधाती रहती थीं। ये महिलाएँ विरह-विधुरा सीताजी की व्याकुलता को अपने अमृतमय सहानुभूति-पूर्ण शब्दों से बहुत कुछ संतोष पहुँचाया करती थीं। यदि सीताजी का ये देवियाँ साथ न देतीं, तो न-जाने उनकी क्या दशा होती! उस असीम दुःख के घनीभूत अंधकार में सरमा और कला सीताजी के लिये क्षीण प्रकाश-रेखा का काम देती थीं। इन्हीं देवियों से सीताजी को श्रीराम के आगमन का समाचार विदित हुआ। जब सीताजी को मालूम हुआ कि मेरे जीवनसर्वस्व, मेरे प्राणों के प्राण, सदल-बल लंकापुरी में आ पहुँचे हैं, तब उनकी विचित्र दशा हो गई। उनके हृदय में सोई हुई शत-शत आशाएँ-अभि-

लाषाएँ जिस तुमुल वेग से जाग्रत् हो उठीं—उसका वर्णन करने में लेखनी अक्षम है। त्रिजटा नाम की राक्षसी अवसर पाते ही सीताजी से बोली—"बहन! विह्वल न होओ! तुम सती हो—सतियों में श्रेष्ठ हो! तुम्हारे अमोघ पातिव्रत के प्रभाव से तुम्हारे स्वामी परम शक्तिशाली हो रहे हैं, वे अजेय हैं। उनके हाथों तुम्हारे पातिव्रत का वज्र इस प्रचंडता से लंकापुरी पर गिरेगा कि उसके आघात से लंकापुरी रसातल को चली जायगी—राक्षस-वंश समूल नष्ट हो जायगा। रावण तुम्हारे पातिव्रत को ज्वाला से क्रीड़ा करने चला था। देखना, वह उसमें सदा के लिये दग्ध हो जायगा।

सीताजी का गला रुँध गया। उनके नेत्रों से दो तप्त अश्रु-बिंदु गिर पड़े।

इधर रावण अपने अभिमान में मुग्ध हो और मूर्ख मंत्रियों की सम्मतियों से उत्तेजित होकर युद्ध की तैयारियाँ करने लगा। इसी बीच उसके मन में एक और ही पाप समाया। उसने सोचा, अब युद्ध तो टल नहीं सकता, पर जिस उद्देश्य से मैंने सीता-हरण किया था, वह तो असंपूर्ण ही रह गया। इसलिये कोई ऐसी माया रचनी चाहिए, जिससे उद्देश्य-साधन में सहायता प्राप्त हो। बस, उसने विद्युज्जिह्व-नामक एक परम मायावी राक्षस को आज्ञा दी कि शीघ्र ही एक ऐसा मुंड तैयार करो, जो रामचंद्र के मुख से मिलता हो। प्रभु की आज्ञा पाते ही विद्युज्जिह्व ने ऐसा मुंड तैयार कर दिया, जो श्रीराम के मुख से हूबहू मिलता

था। रावण उसे देखते ही बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसे लेकर आनंद से किलकारियाँ मारता हुआ अशोक-वाटिका की ओर चला। वह सोचता जाता था कि यह मुंड देखते ही पति-प्राणा सीता प्राण छोड़ देगी। उसके मरने का समाचार मिलते ही रामचंद्र वापस लौट जायँगे। अथवा यदि उसने प्राण न त्यागे, तो रामचंद्र को मरा समझ वह मेरे पराक्रम पर विश्वास कर लेगी, और फिर शायद मेरे वश में भी आ जाय। उधर जब राम को यह समाचार मालूम होगा, तब वे भी असती के लिये झगड़ा-फ़साद न करेंगे, और चुपचाप लौट जायँगे। जो कुछ भी हो, इस बार लाभ में मैं ही रहूँगी।

यही सब सोचते-सोचते रावण अशोक-वाटिका में जा पहुँचा। उसने वह मुंड सीताजी को दिखाकर कहा—"सीते, देखो यह किसका सिर है? क्या इसी सिर के अभिमान से उन्मत्त होकर तुम मुझ-जैसे पराक्रमी का अपमान कर रही थीं? अब राम तो इस लोक में नहीं हैं। अब किसके बल का भरोसा करोगी? अब भी कहना मान जाओ! रावण की भुजाओं का आश्रय पाकर तुम त्रिलोक की सम्राज्ञी बन जाओगी। तब तुम्हारी टेढ़ी भृकुटी देखते ही तीनो लोक थर-थर काँप उठेंगे!"

दुःख की मार बड़े-बड़े बलशाली वीरों को निर्बल कर देती है—उससे बड़े-बड़े धैर्यवान् और बुद्धिमान् विह्वल होकर ज्ञान और बुद्धि त्याग देते हैं। रामचंद्रजी के वियोग और राक्षसों के अत्याचारों से सीताजी ऊब उठी थीं, वे महामति होकर

सीते देखो यह किसका सिर है, क्या इसी सिर के अभिमान से उन्मत्त होकर तुम मुझ-जैसे पराक्रमी का अपमान कर रही हो ? (पृष्ठ १७५)

भी हतबुद्धि हो रहीं थीं। उस रुधिराक्त मुंड को देखते ही वे एकबारगी अपनी सारी सुध-बुध खो बैठीं। उन्होंने समझा

कि सचमुच रावण ने प्राणनाथ को मार डाला है। बस, वे एकदम 'हा नाथ!' की आर्त-वाणी के साथ ही मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ीं। रावण की आज्ञा पाते ही राक्षसियाँ उपचार करने लगीं। बड़ी देर में—बड़ी मुश्किल से—सीताजी की मूर्च्छा भंग हुई। तब वे बड़ी ही विकलता से विलाप करती हुई रावण से बोलीं—"हे लंकेश, तुम चाहे जैसे पराक्रमी रहो, त्रिलोक तुम्हारे आतंक से भले ही काँपते रहें, पर यह भली भाँति स्मरण रक्खो, तुम सती का कुछ नहीं बिगाड़ सकते—तुम मेरी धूल भी नहीं पा सकते—नहीं पा सकते। मैं तुम्हें क्या शाप दूँ, तुम्हारे कार्य ही तुम्हारे लिये शाप हो रहे हैं। तुम्हारे कर्म-वृक्ष में जो विष-फल फल रहे हैं, वही तुम्हारा सर्वनाश करने के लिये यथेष्ट हैं। तुम मेरे सामने से चले जाओ, तुम तो अपने मन की कर ही चुके, अब मैं अपने मन की करूँगी। मैं सती होकर अक्षय-लोक में प्राणनाथ को प्राप्त करूँगी! मुझे, मेरे हृदय को, तुम्हारा पराक्रम, तुम्हारा आतंक, तुम्हारा वैभव और तुम्हारा प्रलोभन, मेरे प्राणनाथ से विभिन्न नहीं कर सकता।"

इस समय सीता की स्थिति बड़ी ही विचित्र हो रही थी। उनके नेत्रों से ऐसा कुछ तेज विकीर्ण हो रहा था, उनकी वाणी में ऐसा कुछ सत्य खेल रहा था कि रावण वहाँ और न ठहर सका, वह मंथर-गति से पिछले पैरों लौट गया। उसके जाते ही सरमा ने सीताजी से कहा—"देवि! तुम अपूर्व

बुद्धिमती होकर भी कैसी बातें करती हो ! तुम सतियों में श्रेष्ठ हो। तुम्हारा बाल बाँका करना भी रावण के सामर्थ्य से बाहर है। यह केवल रावण की माया थी, वह अपनी इसी माया से तुम्हें छलना चाहता था। तुम्हारे स्वामी सानंद हैं। तुम किसी बात की चिंता न करो, और न किसी अमंगल की आशंका से अपने चित को दुःखी करो।"

यह सुन सीताजी के जी में जी आया। उन्होंने सरमा से कहा—"बहन, तुम्हारे गुण, तुम्हारे उपकार मैं मृत्यु के उपरांत भी न भूल सकूँगी। तुमने अकारण ही मुझ पर जो दया की है, भगवान् जाने, मैं तुम्हारे इस ऋण से कैसे उऋण हो सकूँगी। और, उपकार का बदला चुकाया भी कैसे जा सकता है ? यदि भगवान् कभी मुझे सुदिन दिखाएँ, तो बहन, मुझे भूल न जाना, मुझ पर ऐसा ही स्नेह रखना, और क्या कहूँ !"

जैसी करनी वैसी भरनी

श्रीरामचंद्रजी बड़े ही धर्मात्मा थे। महावीर और रण-कुशल होने पर भी रक्त बहाने में उनके प्राण काँपते थे। उन्होंने अपने मित्रों और सेनापतियों से कहा—"हम यहाँ तक युद्ध के लिये तो आए ही हैं, पर यदि यह अवसर टल जाता, तो अनंतप्राणियों का नाश न होता। यदि रावण सम्मान-पूर्वक सीताजी को लौटा दे, और अपने अपराध के लिये क्षमा-प्रार्थना करे, तो यह सर्व-संहार-कारी अवसर टल सकता है। अब आप लोगों की जैसी राय हो, वैसा किया जाय।"

सब लोगों को यह सम्मति पसंद आई, और यह निश्चय किया गया कि अंगद रावण के पास भेजे जायँ, और वे उसे समझावें। यदि वह मान जाय, तो अच्छा है, नहीं तो युद्ध तो होगा ही।

अंगद महाशय रावण के दरबार में गए और उन्होंने संधि की चेष्टा की, पर रावण पर तो पाप की छाया थी, वह क्यों मानता। उसने अंगद को आड़े हाथों लिया। तब तो वे क्षुब्ध होकर अपने दल में लौट आए। उनके मुँह से सब हाल सुनते ही जैसे राम-दल में बिजली कौंध उठी। बहुत-से वीर तो बोले—"अब और ठहरना कायरता है। इसी समय लंका को आक्रांत

करना चाहिए। वीरों की उस क्षुब्ध तरंग-माला को श्रीराम बड़ी ही कठिनाई से शांत कर सके।

पौ फटते-फटते सारी सेना समर-सज्जा से सुसज्जित हो गई। श्रीराम ने खिन्न मन से उसे युद्ध करने की आज्ञा दी। विपुल वीर-वाहिनी जयोल्लास में उन्मत्त होती हुई समर-क्षेत्र की ओर प्रधावित हुई। उधर राक्षसों की सेनाएँ भी तैयार थीं। वे अपनी पूर्व-विजयों की स्मृति से अपने आपे में न थीं। क़िस्सा-कोतह दोनो दल वज्र के झोंकों की नाईं आपस में टकराने लगे। वानर-सेना ने ऐसे उत्साह से, ऐसे रण-कौशल से, युद्ध किया कि राक्षसों को छठी के दूध की याद आ गई, उनके शवों से समर-भूमि ढक गई।

दिनों-दिन युद्ध की विकरालता ज़ोर पकड़ती जाती थी। वानरों की सेना राक्षसों को इस प्रकार समर-शय्या पर सदा के लिये सुला रही थी, जिस प्रकार किसान तृण-समूह को काट-काटकर अपने खेत में बिछाता जाता है। बड़ा ही घमासान युद्ध हुआ। दोनो ओर के इतने वीर मारे गए कि उनके शवों से समर-क्षेत्र की भूमि तिल-तिल करके पट गई। सारी भूमि लहू से लथपथ हो गई। रावण के भाई-बंधु, पुत्र-पौत्र आदि एक-एक करके समरानल में स्वाहा होने लगे। उसके नामी-नामी वीर धूम्राक्ष, मकराक्ष, विशाल-काय, महोदर, कुंभ, निकुंभ, कुंभकर्ण, वज्रदंष्ट्र, अकंपन आदि सदा के लिये समर-सेज पर सो गए। लंकापुरी वीर-बिहीन हो चली। अपने

वीरों का यह संहार, अपनी यह नित्य की पराजय देख रावण क्षुब्ध हो उठा। उसने अपने महावीर पुत्र मेघनाद को युद्ध-क्षेत्र में जाने की आज्ञा दी।

मेघनाद ऐसा-वैसा वीर न था। सारे संसार में उसका युद्ध-कौशल प्रख्यात था। स्वयं देवराज इंद्र उसके नाम से थर-थर काँपते थे। जब वह अपने प्रचंड बल-विक्रम से युद्ध-भूमि में आया, तब सारे राम-दल में त्राहि-त्राहि मच गई। आते-आते ही उसने कितनी ही वानर-सेना नष्ट कर डाली। इसके पश्चात् वह यह कह-कहकर राम-दल को ललकारने लगा—

"कहँ कौसलाधीश दोउ भ्राता ; धन्वी सकल-लोक-बिख्याता।
कहँ नल, नील, द्विबिद, सुग्रीवा ; कहँ अंगद, हनुमत बल-सींवा।
कहाँ बिभीषन भ्राता-द्रोही ; आजु सठहि हठि मारउँ ओही।"

यह सुन लक्ष्मणजी को बड़ा ही क्रोध आया, उनके नेत्रों से जैसे चिनगारियाँ निकलने लगीं। वे विद्युत्-वेग से मेघनाद के सामने पहुँचे, उनके धनुष की टंकार से दशों दिशाएँ गूँज उठीं। दोनो ही महावीर थे, उनमें लोमहर्षण युद्ध होने लगा। मेघनाद के पैने बाणों से लक्ष्मण का शरीर लहू-लुहान हो गया। तब तो उन्होंने भी उस पर ऐसी बाण-वर्षा की कि उसे अपनी सुध-बुध ही न रही। लक्ष्मणजी ने उसके सारथी और घोड़ों को मार गिराया, उसके रथ को चूर-चूर कर डाला। जब मेघनाद ने यह देखा कि अब मैं लक्ष्मण के सामने अधिक देर तक न ठहर सकूँगा, तब तो उसने राम-दल पर नाग-पाश

नाम का एक प्रबल अस्त्र चलाया । उसके प्रभाव से सारा राम-दल मूर्च्छित हो गया। इसके बाद मेघनाद पिता के पास लौट गया ।

पुत्र की इस विजय पर रावण को बड़ा ही आनंद हुआ। उसने सरमा को आज्ञा दी कि वह सीता को रथ में बिठाकर युद्ध-क्षेत्र में ले जाय और नाग-पाश के प्रभाव से मूर्च्छित हुए राम-लक्ष्मण को दिखा लावे । सरमा ने ऐसा ही किया। अपने स्वामी और देवर को मूर्च्छित देख सीताजी विह्वल हो उठीं और बड़ी ही कारुणिक ध्वनि से रोदन करने लगीं । तब सरमा ने उनसे कहा—"बहन, दुःखी न होओ, यह केवल नाग-पाश की माया है। थोड़ी ही देर में तुम्हारे स्वामी, देवर और उनके सैनिक सचेत हो जायँगे।" यह सुन सीताजी का विकल हृदय शांत हुआ। सरमा उन्हें युद्ध-क्षेत्र में घुमाकर पुनः अशोकवाटिका में ले गई ।

यहाँ थोड़ी ही देर बाद नाग-पाश का प्रभाव नष्ट हो गया। सब लोग मानो निद्रा त्यागकर उठ खड़े हुए । दूसरे दिन पुनः बड़ी प्रचंडता से युद्ध आरंभ हुआ। आज मेघनाद को युद्ध करते-करते बहुत विलंब हो गया, पर उसे विजय की आशा दिखाई न दी। तब उसने 'वीरघातिनी-शक्ति'-नामक एक प्रचंड अस्त्र लक्ष्मणजी पर छोड़ा। उसके भयंकर आघातलक्ष से लक्ष्मणजी अचेत हो गए। नके गिरते ही राम-दल की विजय-पताका नीचे झुक गई। मेघनाद 'जय-नाद' करता हुआ नगर में लौट गया ।

उधर लंका में विजयोल्लास हो रहा था, इधर राम-दल पर शोक की सघन-घटाएँ घिर रही थीं। जिसे देखो, वही लक्ष्मणजी के लिये 'हाय-हाय' कर रहा था। श्रीराम की तो ऐसी दशा हो रही थी कि कुछ कहते नहीं बनता। आज उन पर मानो दुःख, शोक और परिताप ने तीनों ओर से बड़ी निर्ममता से धावा बोल दिया था। श्रीराम आज की तरह इसके पूर्व कभी शोक से विह्वल न हुए थे। पिता-मरण और सीता-हरण की घटनाओं ने भी उन्हें इतना विचलित न किया था। वे ऐसा कारुणिक विलाप कर रहे थे कि उसे सुन सभी आठ-आठ आँसू रो उठे थे। परंतु हनुमान्जी बड़े ही धैर्यवान् थे। उन्होंने विभीषण से कहा—"भई, तुम्हीं बताओ, प्रभु का यह दुःख कैसे दूर हो सकता है? ऐसा कोई उपाय है, जिससे लक्ष्मणजी को पुनः चेतनता प्राप्त हो सके?"

विभीषण ने उत्तर दिया—"भई, आघात तो भयंकर हुआ है! इस शक्ति की चोट से बचना असंभव ही है। पर एक उपाय है, आप यदि लंकापुरी से सुषेण वैद्य को ले आवें, तो कदाचित् वे कुछ प्रयत्न कर सकें।"

हनुमान्जी उसी समय लंकापुरी की ओर चले, और ज्यों-त्यों करके सुषेण तक जा पहुँचे। वैद्यजी बड़े सज्जन थे। तुरंत हनुमान्जी के साथ चले आए। लक्ष्मणजी की नाड़ी देखकर बोले—"यदि रात्रि बीतने के पहले ही गंधमादन पर्वत से संजीवनी-बूटी लाई जा सके, तो ये बच सकते हैं।"

द्रुतगामी हनुमानजी के सिवा यह कार्य किससे हो सकता

था। वे तुरंत गंधमादन की ओर चल पड़े। इधर मूर्च्छित लक्ष्मण के पास बैठे हुए भ्रातृ-वत्सल राम की दशा बड़ी ही दयनीय हो रही थी। ज्यों-ज्यों रात्रि बीतती जाती थी, त्यों-त्यों उनकी व्याकुलता बढ़ती जाती थी। वे रह-रहकर विलाप कर उठते थे। महात्मा तुलसीदासजी ने लिखा है—

"उहाँ राम लछिमहिं निहारी ; बोले बचन मनुज-अनुहारी।
अर्ध राति गइ कपि नहिं आवा ; राम उठाइ अनुज उर लावा।
सकहु न दुखित देखि मोहिं काऊ ; बंधु, सदा तव मृदुल सुभाऊ।
मम हित लागि तजेउ पितु-माता ; सहेउ बिपिन हिम-आतप-बाता।
सो अनुराग कहाँ अब भाई ; उठहु न सुनि मम बच-बिकलाई।
जौं जनतेउँ बन बंधु-बिछोहू ; पिता-बचन मनितेउँ नहिं ओहू।
सुत बित नारि भवन परिवारा ; होहि जाहिं जग बारहि बारा।
अस बिचारि जिय जागहु ताता ; मिलइ न जगत सहोदर-भ्राता।
जथा पंख बिनु खग-पति दीना ; मनि बिनु फनि करवरकर-हीना।
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही ; जो जड़ दैव जियावइ मोही।
जैहौं अवध कवन मुँह लाई ; नारि हेतु प्रिय बंधु गँवाई।
बरु अपजस सहतेऊँ जग माहीं ; नारि-हानि बिशेष छति नाहीं
अब अपलोक सोक सुत तोरा ; सहिहि कठोर निठुर उर मोरा।
निज जननी के एक कुमारा ; तात तासु तुम प्रान-अधारा।
सौंपेसि मोहिं तुम्हहि गहि पानी ; सब बिधि सुखद परम हित जानी।
उतरु काट दैहौं तेहि जाई ; उठि किन मोहिं सिखावहु भाई।
बहु बिध सोचत सोचबिमोचन ; स्रवत सलिल राजिव-दल-लोचन।"

इसी समय श्रीराम की मुरझाई हुई आशा-लता लहलहा उठी, मानों प्यासे को पानी मिल गया। हनुमान्‌जी संजीवनी बूटी लेकर आ गए। वैद्यजी तो उससे ओषधि तैयार करने में लगे, और रामचंद्रजी हनुमान्‌जी से लिपट गए। उस समय उनकी आँखें डबडबा रही थीं, गला रुँध रहा था। बड़े प्रयत्न से बोले—"भैया! तुम्हारा यह उपकार जीवन की अंतिम साँसों तक न भूलूँगा।" हनुमान्‌जी भी रो दिए। उन्होंने कहा—"प्रभो! हम लोग आपके सेवक हैं। हमारे रहते आप क्यों इतने कातर होते हैं।"

वैद्यजी ने लक्ष्मण को ओषधि पिलाई। थोड़ी ही देर में उन्होंने नेत्र खोल दिए। राम-दल ने मानो त्रिलोक की संपदा पा ली। उसकी आनंद-ध्वनि और जय-घोष से दशो दिशाएँ गूँज उठीं। रावण के राजमहल में भीं वह ध्वनि पहुँची। वह माथा पकड़कर बैठ गया, और बोला—"यह मेरा दुर्भाग्य ही है, जो वहाँ मेघनाद की शक्ति से मृत हुआ वीर जीवित हो गया। पर, अब क्या, जब यहाँ तक बढ़ आया हूँ, तब पीछे न हटूँगा।"

प्रातःकाल होते ही युद्ध आरंभ हुआ। मेघनाद बादल के समान गर्जता हुआ लक्ष्मण की ओर चला। लक्ष्मणजी क्रुद्ध सिंह की नाईं गर्जकर उसके सामने पहुँचे और बोले—"आज या तो मैं ही पृथ्वी पर रहूँगा, या तू ही।" दोनो जान की बाज़ी लगाकर रोमांचकारी युद्ध करने लगे। दोनो ओर से ऐसी बाण-

वर्षा हुई कि आकाश बाणों से ढक गया। दोनो के शरीर लहू-लुहान हो गए। लक्ष्मणजी ने उसके सारथी को मार गिराया, और घोड़ों को मारकर रथ को चूर-चूर कर दिया। यह देख मेघनाद को भी बड़ा क्रोध आया और वह दाँत पीसकर लक्ष्मणजी की ओर दौड़ा। इतने में लक्ष्मण ने उस पर ऐसा बाण छोड़ा कि वह उसकी छाती चीरकर निकल गया। मेघनाद गिरकर मर गया। यह देखते ही राक्षसों में भगदड़ मच गई। जिसे जहाँ रास्ता मिला, भाग निकला।

जब रावण ने अपने प्यारे बेटे की मृत्यु का समाचार सुना, तब वह शोकावेग से विकल हो गया। मेघनाद से उसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रहती थीं। आज आशाओं का वह पुंज धूलि-धूसरित हो गया। रावण को मूर्च्छा आ गई। थोड़ी देर बाद जब वह चैतन्य हुआ, तब शोक और क्रोध से अंधा हो तलवार ले अशोक-वाटिका की ओर झपटा। उसने सोचा, सीता ही इस अनर्थ की मूल है, अतः आज इसे ही समाप्त करना चाहिए। रावण की भयानक मूर्ति देखते ही सीताजी समझ गईं कि अब मेरी मृत्यु आ गई। वे अपने एकमात्र आराध्य-देव श्रीराम का स्मरण कर मृत्यु का आलिंगन करने के लिये प्रस्तुत हो गई। रावण का क्रोध देखते ही बड़े-बड़े महावीरों के हाथ के तोते उड़ जाते थे। उस समय उसकी साध्वी पत्नी देवी मंदोदरी ही उसे शांत करने में समर्थ होती थी। रावण को स्त्री-हत्या के घोर पाप में प्रवृत्त होते देख वह भी उसके

पीछे-पीछे चली। रावण सीताजी पर तलवार चलाना ही चाहता था कि मंदोदरी ने उसका हाथ पकड़ लिया, और कहा—"नाथ! यह आप क्या करते हैं? संसार-विजयी वीर होकर एक अबला पर हाथ उठाते हैं।" मंदोदरी के शब्दों ने रावण के हाथ को स्थिर कर दिया। वह दुःखित होता हुआ महल में लौट गया।

मंदोदरी ने रावण को कितना ही समझाया कि आपने न-जाने किस बुरी घड़ी में सीता-हरण किया था। सारा घर-परिवार नष्ट हो गया। अब भी आप रामचंद्र से संधि कर लीजिए, और सीता को सम्मान-पूर्वक उनके पास भेज दीजिए, परंतु रावण एक ही शानदार व्यक्ति था। उसने मंदोदरी से कहा—"प्रिये! अब तो बात बहुत बढ़ गई है। जो मस्तक आज तक गर्व से संसार की ओर देखता रहा, वह अब क्या अपमान से झुकेगा? प्यारे भाई-बंधुओं और पुत्र-पौत्रों को काल को भेंटकर, अब क्या इन तुच्छ प्राणों के लिये शत्रु के सामने सिर झुकाऊँगा? नहीं, अब तो इन प्राणों को ही समरानल में झोंककर पापों का प्रायश्चित्त करूँगा।"

रावण ने तुरंत सेना को तैयार होने की आज्ञा दी। इस बार वह स्वयं समर-क्षेत्र की ओर चला। युद्ध-क्षेत्र में पहुँचते ही वह ऐसी प्रचंडता से गर्जा कि दशो दिशाएँ गूँज उठीं—पृथ्वी हिल गई। उसका वह जलद-गंभीर गर्जन सुनते ही वानर-सेना सिटपिटा गई। उसने राम-दल को ललकारकर कहा—

"कहँ लछिमन हनुमंत कपीसा ; कहँ रघुवीर कोसलाधीसा ?"

श्रीराम ने अपने सैनिकों से कहा—"भाइयो, रावण का यह तेज देख हत-साहस न होना। धर्म हमारी ओर है। भगवान् चाहेंगे, तो इस बार भी हमीं विजयी होंगे। रामचंद्रजी के आश्वासन से सेना के जी में जी आया। वह भी जय-घोष करती हुई रावण की ओर बढ़ी।

रावण त्रैलोक्य-विजयी वीर था। बड़े-बड़े देवता भी उसे देखते ही भय-विह्वल हो जाते थे। फिर आज उसने युद्ध की ऐसी तैयारी की थी, जैसी अपने जीवन में पहले कभी न की थी। जिस समय उसने अस्त्र-शस्त्र चलाना शुरू किया, राम-दल में भगदड़ मच गई। वानर-सेना के नामी-नामी वीर भयातुर हो यहाँ-वहाँ छिपने लगे। स्वयं श्रीराम और लक्ष्मणजी उसका अनुपमेय युद्ध-कौशल देख विस्मय-विमुग्ध हो गए। रावण ने श्रीराम पर ऐसी बाण-वर्षा की कि वे थोड़ी देर के लिये मूर्च्छित भी हो गए। यह देख वानर-सेना की रही-सही आशा भी जाती रही।

थोड़ी ही देर में श्रीराम की मूर्च्छा भंग हो गई। वानर-सेना को आकुल देख उन्हें अपनी निर्बलता पर बड़ी ही ग्लानि हुई, और अब की बार वे अपना संपूर्ण बल समेटकर रावण भिड़ गए। बड़ा ही भयंकर युद्ध होने लगा। कहते हैं, संसार में ऐसा भीषण युद्ध आज तक नहीं हुआ। बड़ी देर तक युद्ध होता रहा। अंत में श्रीराम ने अत्यंत क्षुब्ध होकर रावण पर

ऐसा ब्रह्मास्त्र छोड़ा कि फिर उसकी रक्षा न हो सकी। वह कटे वृक्ष की नाईं धरती पर गिर पड़ा, और उसका प्राण-पखेरू उड़ गया। राम-दल आनंद से विभोर हो उठा। उसका जय-घोष बार-बार आकाश को विकंपित करने लगा।

रावण के मरते ही सारी लंकापुरी में हाहाकार मच गया। विभीषण भी अपने महाप्रतापी बंधु की यह गति देख शोक से व्याकुल हो उठा। रावण की स्त्रियाँ रोती-कलपती हुई युद्ध-क्षेत्र में आईं। रावण के शव के निकट बैठकर उन्होंने ऐसा विलाप किया कि चारों ओर करुणा का सागर लहराने लगा। स्वयं श्रीराम के नेत्रों से अश्रु-बिंदु ढलकने लगे। उन्होंने उन स्त्रियों को बहुत कुछ ढाढ़स बँधाया और विभीषण को रावण की अंत्येष्टि क्रिया करने की आज्ञा दी।

आज पृथ्वी एक बड़े भार से हलकी हो गई। पाप का एक विशाल पुंज सत्य और धर्म की ज्वाला में दग्ध हो गया। रावण ने अपनी खोटी करनी का खोटा फल पाया। उसने मानो संसार के सामने यह उदाहरण प्रस्तुत कर दिया कि बुरे का अंत बुरा ही होता है।

अग्नि-परीक्षा

आज राम का हृदय शांत हुआ। उन्होंने हनुमान्‌जी से कहा—"भई, तुम्हारे ही यत्न से मुझे खोई हुई सीता का पता चला था। तुम्हारी ही चतुराई से आज इस महायुद्ध का यह सुखमय अंत हुआ है। अब तुम्हीं सीता के पास जाओ, उन्हें अपनी विजय का समाचार सुनाओ, और उनका कुशल-संवाद ले आओ।"

श्रीराम की आज्ञा पाते ही हनुमान्‌जी अकड़ते हुए अशोक-वाटिका की ओर चले। आज हनुमान्‌जी को इस भाँति निश्शंक-भाव से आते देख सीताजी बड़ी आशा से उनकी ओर ताकने लगीं। हनुमान्‌जी ने उन्हें प्रणाम किया और युद्ध-विजय का संवाद सुनाकर कहा—"देवि! श्रीराम ने आपका कुशल-समाचार पूछा है।"

सीताजी के आनंद की सीमा न रही, उनका मुरझाया हुआ मुख-कमल खिल उठा। पुलक के आवेग से वे कुछ ऐसी आत्म विस्मृत हुईं कि कुछ देर तक बोल ही न सकीं! कुछ देर बाद उन्होंने गद्‌गद कंठा से कहा—"हनुमान्! आज तुमने मुझे ऐसा सुखद-संवाद सुनाया है कि मेरे इस दग्ध-शरीर में प्राण वेलि लहलहा उठी। पहले भी तुम्हींने स्वामी का संदेस

सुनाकर इस शरीर में प्राणों को अटका दिया था, और आज पुनः उनकी कुशल-वार्ता सुनाकर, तो मानो मुझ मरती हुई को तुमने जीवन ही प्रदान कर दिया। उस बार भी मैं तुम्हें कुछ पुरस्कार न दे सकी थी और आज भी कुछ नहीं दे सकती। संसार में ऐसी वस्तु भी नहीं, जो मैं इस आनंद के मूल्य में तुम्हें दे सकूँ। और, इस दुखियारी के पास है ही क्या, जो वह तुम्हें देकर संतुष्ट कर सके। वत्स! मैं केवल तुम्हें आशीर्वाद देकर ही अपने दीन-हीन मन को शांत किए लेती हूँ।

"अब सोइ यतन करहु तुम ताता। देखौं नयन स्याम मृदु गाता॥"

यह कहते-कहते सीताजी की आँखों से टपटप करके अश्रु-बिंदु गिरने लगे।

सीताजी की यह दशा देख हनुमान्‌जी का हृदय भी उमड़ आया। उन्होंने सीताजी से कहा—"माता, आप इतनी कातर न हों। आपका आशीर्वाद ही मेरे लिये इस विश्व से भी बहुमूल्य है। आपकी आशीर्वाद-ध्वनि ही मेरे लिये संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार है। मैं ऐसी चेष्टा करूँगा कि आप आज ही श्रीरघुनाथजी के दर्शन कर सकेंगी।"

हनुमान्‌जी सीताजी को प्रणामकर रामचंद्रजी के पास लौट आए। उनके मुख से विरह-विदग्ध सीताजी का समाचार सुन श्रीराम के नेत्रों से आँसू बहने लगे। उन्होंने विभीषण से कहा—"भैया, मैं तो प्रतिज्ञा के बंधन में बँधा होने से नगर में जाने

से रहा, तुम्हीं जाओ, और मेरी सीता को सम्मान-पूर्वक यहाँ ले आओ।"

परम आज्ञाकारी विभीषण अशोक-वाटिका की ओर चले। अशोक-वाटिका में पहुँचकर उन्होंने हाथ जोड़कर सीताजी से कहा—"देवि ! भक्त-वत्सल श्रीराम आपको देखने के लिये व्याकुल हो रहे हैं। उनकी इच्छा है कि आप अयोध्या की महारानी के वेष में उनके सन्मुख उपस्थित हों।" सीताजी बोलीं—"विभीषण, वे मेरे पूज्य हैं, मेरे इस जीवन और उस जीवन के जीवनाधार हैं। मैं इसी वेष में उनके दर्शन करूँगी। कोई भी तीर्थ-यात्री सिंगार-पटार की आवश्यकता नहीं समझता।" विभीषण ने कहा—"माता ! आप जो उचित समझें, मैंने तो आपको केवल श्रीराम का संदेश-भर सुना दिया है।"

इस पर विभीषण-पत्नी सरमा सीताजी से बोलीं—"नहीं बहन, आज मैं तुम्हारी एक न चलने दूँगी। मैं तुम्हें राज-रानी के रूप में देखकर अपनी आँखें ठँढी करूँगी। इसके बाद सरमा बड़े चाव से सीताजी का श्रृंगार करने लगी। जब उनका सोलह-श्रृंगार हो चुका, तब वे अनेक महिलाओं के साथ पालकी में बैठकर पति के दर्शन करने चलीं।

इस समय सीताजी की दशा बड़ी विचित्र हो रही थी। उनके मन में नाना प्रकार के भाव उदय हो रहे थे। उन्हें स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि मैं किसी दिन रावण के पंजे से छूटकर पूज्य पतिदेव के दर्शन कर सकूँगी। परंतु

आज अचानक ही यह पुण्यमय अवसर आ पहुँचा था। हर्ष उनके हृदय में नहीं समाता था। इस समय उनकी वैसी ही दशा थी, जैसी कि अकस्मात् मुहरों का ढेर पाने से किसी दरिद्री की हो जाती है।

इधर राम-दल की दशा भी कुछ और हो रही थी। सभी सैनिक आनंदातिरेक से मतवाले हो रहे थे। सभी बड़ी व्याकुलता से रास्ते पर नज़रें लगाए थे। सभी की यह इच्छा थी कि कब सीताजी पधारें और कब हम उनके दर्शन कर अपने नेत्र सफल करें। बड़ी मुश्किल से, बड़ी प्रतीक्षा से, पालकी आती हुई दिखाई दी, पर उस पर परदा पड़ा हुआ था। सब निराशहो गए। अब बेचारे कभी पालकी की ओर देख लेते थे, तो कभी श्रीराम की ओर श्रीराम उनके मन की ताड़ गए। उन्होंने विभीषण को आज्ञा दी—"यहाँ सभी हमारे अपने हैं। यहाँ परदे की आवश्यकता नहीं है। सीताजी को पैदल ही आने दीजिए।"

सीताजी तुरंत पालकी से उतर पड़ीं और नीचा सिर किए अत्यंत सलज्ज-भाव से धीरे-धीरे श्रीराम की ओर चलने लगीं। उनका दर्शन करते ही सेना पुलकित हो उठी, मानो आनंद की एक लहर आ गई। 'सीताजी की जय' के घोर नाद से समरभूमि रह-रहकर गूँजने लगी।

सीताजी ने स्थिर और सरल दृष्टि से पतिदेव के दर्शन किए। उनके हृदय में हर्ष, स्नेह और विस्मय की त्रिवेनी लह-

राने लगी। जिनके वियोग में सीताजी ने अपने सारे सुखों का त्याग कर दिया था, जिनका ध्यान करते-करते सीताजी ने अपना सोने-जैसा शरीर राख कर लिया था, जिनकी विरह-ज्वाला ने सीताजी के शरीर में केवल अस्थियों का पंजर छोड़ दिया था, जिनका मोहन-रूप देखने के लिये लंका में रात-दिन सीताजी के नेत्र तरसते रहते थे, आज उन्हीं प्राण-वल्लभ को सम्मुख देख, सीताजी आनंद से विह्वल हो गईं, वे अपना आपा भूल गईं, उनकी जिह्वा कुंठित हो गई, वे केवल स्वामी के मुखारविंद को एकटक देखती रह गईं। आज दस महीने बाद अपनी प्राणेश्वरी को देख श्रीराम की भी ऐसी ही दशा हुई। सीताजी के खिले हुए मुख-कमल को देख श्रीराम अपनी सुध-बुध भूल गए। कुछ देर बाद बोले—"आज मेरी साधना सफल हुई। जिस आशा को लेकर मैं विषम समुद्र के इस पार आया था, जिस आशा को लेकर हनुमान्‌जी ने समुद्र-लंघन का भयंकर कार्य किया था, जिस कामना को लेकर हम लोग समर-भूमि में आए थे, जिस कामना से प्रेरित होकर लक्ष्मण तथा अन्य वीरों ने युद्ध-क्षेत्र में अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी थी, वह आशा—वह कामना आज सफल हुई। सिद्धि प्राप्त होने से साधक जैसे साधना का कष्ट भूल जाते हैं, वैसे ही आज आनंददायिनी सीतादेवी को देख मेरे सब कष्ट, और क्लेश दूर हो गए हैं।"

पूज्य पतिदेव के मुख से ऐसे प्रेम-पूर्ण शब्द सुन सीताजी

भी अपने सारे मनस्ताप और विषाद को भूल गईं। सौभाग्य-श्री ने उनके दिव्य मुखड़े को और भी प्रफुल्लित, और भी दिव्य कर दिया। उनके आकर्ण-विस्तीर्ण अश्रु-सिक्त नेत्र, ओस से भीगे हुए कमल-दल के समान, सुशोभित हो उठे।

दो विरह-विदग्ध हृदय अभी एक होने भी न पाए थे, प्रेम की वीणा के टूटे तार अभी जुड़ने भी न पाए थे कि उस मधुर-मिलन के मध्य अपमान की भैरव-मूर्ति प्रेत के समान आ खड़ी हुई। सहसा श्रीराम के मुखड़े पर विषाद की छाया दिखाई दी। वे सोचने लगे—"मैं जानता हूँ सीताजी सतीत्व की सजीव प्रतिमा हैं, उनके हृदय में पति-प्रेम का अथाह सागर लहरा रहा है। परंतु हाय! मैंने विश्व-विख्यात रघु-कुल में जन्म लिया है, मैं राजा हूँ, प्रजा को प्रसन्न रखना ही मेरा परम धर्म है! वह कैसे समझेगी कि सीताजी सत्य की प्रचंड ज्वाला हैं; वह तो यही सोचेगी कि रावण के यहाँ न-जाने सीता का चरित्र कैसा रहा होगा। हा रावण! तूने मेरे हृदय में जो आग लगाई है, तेरे और तेरे बंधु-वर्गों के रक्त से बुझाने पर भी वह शीतल होती नहीं दिखाई देती, और भभकना चाहती है। यद्यपि सीता के मिलन से मेरे मन-प्राण तृप्त होंगे, मैं धर्म की और भी सेवा कर सकूँगा; किंतु प्रजा पर मेरे इस कार्य का न-जाने, क्या प्रभाव पड़ेगा! संसार न-जाने मेरे विषय में क्या कहेगा!"

श्रीराम के मुखड़े पर विषाद की वह गहरी छाया देख सीताजी का हृदय आशंका से उद्वेलित हो उठा। वे चुपचाप पतिदेव की ओर देखने लगीं। श्रीराम बोले—"देवि! रावण ने तुम्हारा हरणकर पवित्र इक्ष्वाकु-वंश का घोर अपमान किया था। मैं उस अपमान की आग से दग्ध हो रहा था। कर्तव्य का अनुरोध था कि मैं रावण से उस घोर अपमान का बदला लूँ, और इक्ष्वाकु-वंश की कलंक-कालिमा को शत्रु के रक्त से धो बहाऊँ। जो मनुष्य अपमान का बदला नहीं लेता, वह का-पुरुष है, उसके पूर्वजों का नाम कलंकित होता है। इन्हीं भावों से प्रेरित होकर मैं इस महायुद्ध में प्रवृत्त हुआ था। मित्रों की सहायता से मैं रघुवंश का सम्मान बढ़ाने और तुम्हारा उद्धार करने में समर्थ हो सका हूँ। यद्यपि तुम मुझे प्राण-प्रिय हो, किंतु माथे पर कलंक का टीका लगाकर, नीति की मर्यादा तोड़कर, मैं तुम्हें अपने पास नहीं रख सकता। विषयी रावण ने तुम्हारा हरण किया था, वह तुम्हें पाप-दृष्टि से देखता था, तुम्हें उसके यहाँ दस महीने तक रहना पड़ा। संभव है, तुम्हारा चरित्र शुद्ध रहा हो, तुम घटाच्छादित चंद्र के समान उस पाप-पुरी में अपनी रक्षा करने में समर्थ हुई हो; पर संसार तो ये बातें जानता नहीं, उसकी दृष्टि में तो तुम्हारा चरित्र नीचा हो ही गया है। अतः मैं तुम्हें ग्रहण करने में असमर्थ हूँ। सभी को कर्म-भोग भोगना पड़ता है, तुम भी संसार के इस नियम से नहीं बच सकतीं। यह विशाल पृथ्वी अगणित प्राणियों को गोद

में लेकर अन्न-जल देती है, तुम्हें भी मैं इसी के सहारे त्यागता हूँ।"

यह कहते-कहते श्रीराम कातर हो उठे। उनकी आँखें भर आईं। उन्होंने माथा नीचा कर लिया। वे हृदय के हाहाकार को दबाने के लिये बार-बार लंबी साँसें लेने लगे। श्रीराम के मुँह से ऐसी बातें सुनकर आस-पास बैठे हुए सैनिक क्षुब्ध हो उठे, और रोष-पूर्ण नेत्रों से उनकी ओर देखने लगे। परंतु सतीत्व की उस गौरव-पताका पर तो मानो अचानक ही वज्र-पात हो गया। वे शोकावेग से पृथ्वी की ओर देखने लगीं, मानो पृथ्वी फट जाय, तो मैं समा जाऊँ। बारह वर्ष वन-वन भटकने और एक वर्ष तक घोर-विरहाग्नि में रावण का दारुण त्रास सहने में उन्हें जैसा कष्ट हुआ था, उससे कई गुना कष्ट आज स्नेहमय स्वामी के शब्द सुनकर हुआ। सीताजी के नेत्रों से अश्रु-धारा बहने लगी। रमणी सब कुछ सह सकती है, संसार को सारे कष्टों और लांछनों से हँसते-हँसते सामना कर सकती है, पर पति द्वारा किया गया अपमान, और वह भी चरित्र-विषयक, उसे कभी सह्य नहीं हो सकता। इस अपमान की व्यथा से वह आकुल हो उठती है। इस अपमान की ज्वाला उसके कोमल हृदय को झुलसा देती है। फिर सीता देवी तो क्षत्रानी थीं—ऐसी क्षत्रानी, जिनका पति-प्रेम ही जीवन था, पातिव्रत के दुर्गम पथ पर गमन करना ही जिनका धर्म था, पति के दुःखों में छाया के समान साथ देना ही जिनकी साधना थी,

वे पति के द्वारा यह असह्य अपमान, यह कल्पनातीत अपमान कैसे सह सकती थीं ? उनकी सारी शुभाशाओं और उनके सारे पुण्य-संकल्पों की हत्या हो गई। स्वाभिमान की ज्वाला उनके हृदय में धक-धक करके प्रज्वलित हो उठी । फिर भी उन्होंने अपने क्षुब्ध मन को, शोक के भीषण उच्छ्वास को दबाकर बड़ी नम्रता से श्रीराम से कहा—"महाराज, यह आप क्या कह रहे हैं ? जान पड़ता है, युद्ध में व्यस्त रहने के कारण आपका मन अत्यंत अशांत हो उठा है, नहीं तो आप मुझसे ऐसे कटु शब्द कैसे कहते ! यदि आपके मन में यही था, तो उस दिन हनुमान्‌जी द्वारा क्यों आपने मेरे पास प्रेम-संदेश भेजा था ? युद्ध-विजय के उपरांत आपने किसलिये हनुमान्‌जी को मेरा कुशल-समाचार लाने के लिये भेजा था ? यदि उसी समय आप ये बातें मुझे कहला भेजते, तो मैं अपना कलंकित मुँह लेकर क्यों यहाँ आती ? मुझे मालूम होता, तो मैं क्यों इन पापी प्राणों को इस शरीर में अटका रखती, और आपके दर्शनों की प्रतीक्षा में क्यों एक-एक पल को वर्षों के समान बिताती ! उसी समय प्राण त्यागकर सारे झंझट मिटा देती। तब आप अपने प्राणों को तो इस प्रकार संकट में न डालते। अपने मित्रों को, अनंत निरपराधी सैनिकों को तो इस प्रकार युद्ध में जय-पराजय के दाँव पर न लगाते। आर्य-पुत्र ! आपने नीति की जैसी बातें कही हैं, वैसी आप के समान स्थिर-बुद्धि के मनुष्य कभी नहीं कहते ! आप नीति की मर्यादा की

रक्षा के लिये अविचारी न्यायाधीश के समान मुझे त्याग का कठोर दंड दे रहे हैं। पर मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि विना अपराध ही, विना पूरी जाँच-पड़ताल किए ही, एक सती-नारी को ऐसा घोर दंड देकर आप कैसे नीति, न्याय, मर्यादा और धर्म का पोषण कर सकेंगे! महाराज, आप अपवित्र आचरण की नीच स्त्रियों को देखकर ही मुझे दुराचारिणी समझ बैठे हैं। आपकी यह भीषण भ्रांति मेरे हृदय को किस प्रकार मसल रही है, यह आपसे न कहूँगी । मेरा निवेदन तो यही है कि आप मुझे जैसी नीच समझते हैं, मैं वैसी नहीं हूँ यदि मैं साधारण स्त्रियों के समान अपना धर्म बिगाड़नेवाली होती, तो आज आपसे ऐसे तिरस्कार-वाक्य सुनने का अवसर ही क्यों आता! आप मुझ पर इस बात का अपराध लगाते हैं कि मैं रावण के यहाँ रही हूँ, उसने मेरे शरीर को स्पर्श किया था। पर, दयानिधे, यह तो सोचिए, उस आपत्काल में, उस पराधीनावस्था में मैं कर ही क्या सकती थी? दुरात्मा के बाहु-बल का सामना करने की शक्ति मेरे निर्बल हृदय में कहाँ थी। वह तो केवल आपके प्रेम-संभार से ही दबा जा रहा था। उस पर तो केवल आपकी पवित्र मूर्ति ही स्थित थी, दुरात्मा में कहाँ इतनी शक्ति थी कि वह उस पवित्र हृदय को स्पर्श करता—उस पर अपवित्रता की कालिमा लगा सकता! खेद है, आप विद्या-बुद्धि के अक्षय भांडार होने पर भी मेरा हृदय नहीं समझ सके! मरण-काल की संधि-बेला में केवल यही

बात मेरे हृदय को शत-शत वृश्चिक-दंशन से भी अधिक पीड़ित कर रही है।"

यह कहकर सीताजी चुप हो रहीं। उनका मुखड़ा पवित्रता के दिव्य आलोक से झलमला उठा। श्रीराम मारे लज्जा के सिर ऊँचा न उठा सके, वे ज्यों-के-त्यों बैठे रह गए। उनके इस उपेक्षा-भाव से सीताजी धैर्य-विगलित हो गईं। उन्होंने बड़ी ही कातरता से लक्ष्मणजी से कहा—"भैया! उस दिन मैंने पंचवटी में अकारण ही तुमसे कटु-वचन कहकर जो पाप किया था, आज उसके पूर्ण प्रायश्चित्त की बेला आ गई है। तुमने मेरे लिये बहुत कष्ट सहे हैं, अब थोड़ा कष्ट और सहो। जिस शरीर को स्वामी ने संदेह की दृष्टि से देखा है, उसे अब रखकर क्या करूँगी! तुम मेरे लिये चिता बना दो! मैं चिता पर चढ़कर अग्नि की लोल जिह्वाओं से यह शरीर शुद्ध करूँगी।"

मारे रोष के लक्ष्मणजी के नेत्रों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्होंने बड़ी ही कुटिल दृष्टि से श्रीराम की ओर देखा। पर उन्हें चुप देख, उनकी सम्मति समझ, लक्ष्मणजी चुपचाप चिता बनाने लगे।

संसार में नित्य ही कनेकों आश्चर्य-जनक घटनाएँ हुआ करती हैं, पर उस दिन त्रेता में लंकापुरी में जो अभूत-पूर्व घटना घटित हुई थी, वह अत्यंत ही आश्चर्य-जनक थी! वैसी घटना फिर संसार आज तक न देख सका! वह घटना क्या

थी, भारत के अतीत गौरव की अक्षय धारा थी। उसने भारत के गौरव को सदा के लिये अत्यंत उज्ज्वल कर दिया। चिता तैयार हो गई। परम दुःखिनी सीताजी न-जाने कितनी उमंगें, कितनी आशाएँ लेकर उस भीषण वियोग-व्यथा के बाद आज पतिदेव के सामने आई थीं; पर सुख के बदले दुःख, आदर के बदले अपमान पाकर वे अपने चिर-दुःखी जीवन को समाप्त करने के लिये प्रस्तुत हुईं। उन्होंने पूज्य-पति की परिक्रमा की, और उन्हें प्रणामकर अग्नि-कुंड की ओर पग बढ़ाया। यह देख संपूर्ण राम-दल विस्मय-विमुग्ध हो उठा। सीताजी प्रज्ज्वलित अग्नि-कुंड के समीप पहुँचीं। उनका मुरझाया हुआ मुखड़ा प्रातःकालीन सूर्य की नाईं प्रदीप्त हो उठा। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—"हे अग्निदेव! हे ज्योति-स्वरूप परमात्मन्! तुम पाप-पुण्य के साक्षी हो! यदि मैंने तन से, मन से, वचन से, सोते में, जागते में कभी पर-पुरुष का ध्यान किया हो, तो तुम अभी मेरे इस शरीर को भस्म कर दो।"

यह कहकर देवी सीता निर्भय हो उस भीषण अग्नि-कुंड में कूद पड़ीं। जितने लोग वहाँ थे, सभी एकस्वर से हाहाकार कर उठे। अभी तक रामचंद्रजी चुपचाप बैठे थे। सीताजी का यह उग्रत्याग देख वे भी विचलित हो उठे। उनकी आँखें भर आईं। उन्होंने 'हा सीता!' कहते हुए धनुष पर बाण चढ़ा लिया, और अग्नि को संबोधन कर कहा—"हे अग्निदेव! तुम मेरी सीता को लौटा दो! बस, जान लो कि सीता के विना

देवी सीता निर्भय हो उस भीषण अग्नि-कुंड में कूद पड़ीं, (पृष्ठ २०१)

राम का भी अस्तित्व नहीं है। मेरी सीता सतियों में श्रेष्ठ है, मैंने विना सोचे-समझे उसे कटु वचन कह दिए हैं। यदि तुम मेरी सीता को नहीं लौटाओगे, तो आज संसार में प्रलय मच जायगा, त्रिलोक में भी तुम्हारा ठिकाना न रहेगा !"

श्रीराम के वचन समाप्त होते-होते अग्नि-देव सीताजी को गोद में लेकर चिता से बाहर निकले, और रामचंद्रजी के निकट जाकर बोले—"भगवान्! आपने सीताजी पर संदेह कर घोर अनर्थ किया है। गंगा के जल में अपवित्रता हो सकती है, सूर्य की किरणों में मलिनता हो सकती है, पर सीता के चरित्र में अपवित्रता की, मलिनता की संभावना करना भी पाप है! ये ऐसी धर्म-निष्ठ हैं, ये ऐसी पतिव्रता हैं कि इनके चरण-स्पर्श से मेरा धधकता हुआ हृदय भी सुशीतल हो गया है। देव! आप इन्हें ग्रहण कीजिए, इनका सम्मान कीजिए।"

श्रीराम अपराधी की नाईं नीचा सिर किए हुए बोले—"भगवन्! सब जानता हूँ। पर लोक-निंदा की आशंका ने मुझे उद्वेलित कर दिया था, इसी दुर्भावना ने मेरी बुद्धि पर परदा डाल दिया था, जिससे मैं यह अनर्थ कर बैठा!"

यह स्वर्गीय और कल्पनातीत दृश्य देख सभी वह विषाद भूल गए। उस समय ऐसी आनंद-ध्वनि हुई, कि दसो दिशाएँ गूँज उठीं। उस दिन लंका में सीताजी के जय-जयकार की जो तुमुल ध्वनि हुई थी, आज युग-के-युग बीत जाने पर भी भारत में घर-घर उसकी प्रति-ध्वनि सुनाई देती है।

प्रत्यागमन

शोक-संतप्त लंकापुरी में देखते-ही-देखते आनंद की घटाएँ घिर आईं। जिस लंका को श्रीराम ने इतने परिश्रम-पूर्वक विजय किया था, वह उन्होंने विना किसी पशोपेश के ब्राह्मण विभीषण को दान कर दी। श्रीराम तो नगर में जा नहीं सकते थे, अतः लक्ष्मणजी ने अपने हाथों विभीषण को राज-तिलक दिया। इस शुभअवसर पर जो आनंद मनाया गया, जो महोत्सव किया गया, उसका वर्णन करना असंभव है। कई दिन इसी हँसी-ख़ुशी में बीत गए।

परंतु सीताजी को अब लंका में एक-एक दिन, एक-एक पल, पहाड़ के समान बीत रहा था। अपनी सासुओं का दर्शन करने के लिये, अपनी प्यारी बहनों से मिलने-भेटने के लिये, अपने देवरों को सकुशल देखने के लिये उनके प्राण छटपटा रहे थे। एक दिन अवसर देख उन्होंने श्रीराम से कहा—"नाथ! अयोध्या की भी कुछ सुधि है? चौदह वर्ष समाप्त होने में अब विशेष विलंब नहीं है। यदि आप ठीक समय पर अयोध्या न पहुँचेंगे, तो त्यागी भरत की क्या दशा होगी?"

यह सुनते ही श्रीराम चौंक उठे, बोले—"प्रिये! यह तो तुमने ख़ूब याद दिलाई, मैं तो विभीषण के प्रेम में अयोध्या की सुधि ही भूल गया था!" फिर वे हिसाब लगाने लगे कि

चौदह वर्ष समाप्त होने में कितने दिन शेष हैं। हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि वनवास की अवधि समाप्त होने में चार-छः दिन की ही कमी रह गई है। इतने शीघ्र कैसे अयोध्या पहुँच सकेंगे, यह सोचते-सोचते श्रीराम उद्विग्न हो उठे। उन्होंने अपने संपूर्ण हितैषियों से कहा—"भाइयो! तुम्हारे उपकार-भार से मेरा हृदय दब रहा है, तुमने अनंत कष्ट सह-कर मेरा जो उपकार-साधन किया है, उसके लिये मैं तुम्हें किस मुँह से धन्यवाद दूँ! अब मैं अविलंब अयोध्या को लौटूँगा। तुम लोग भी अपने घर लौट जाओ।" यह सुन सब लोग बोले—"वाह महाराज! हम लोग आपका राज्या-भिषेक देखे विना लौटने के नहीं। हम भी आपके साथ अयोध्या चलेंगे।"

इसी समय विभीषण वहाँ आ पहुँचे। श्रीराम ने उनसे कहा—"भाई! तुम्हारे प्रेम में फँसकर मैं एक बड़ा प्रमाद कर बैठा। अयोध्या लौटने में मैंने बड़ा विलंब कर दिया। यदि मैं ठीक समय पर वहाँ न पहुँचूँगा, तो भरत न-जाने क्या कर बैठेगा। मेरे पीछे वह जान देता है। सो मैं अभी यात्रा करूँगा। भई, प्रेम-पूर्वक मुझे बिदा करो।" विभीषण मुस-किराकर बोले—"महाराज! इतनी चिंता न कीजिए। हम लोग भी तो आपके साथ चलेंगे। मेरे भाई रावण देवताओं से 'पुष्पक'-नामक एक विमान छीन लाए थे। वह बड़ा ही द्रुतगामी है। उस पर सवार होते ही हम लोग बात करते

अयोध्या पहुँच जायँगे ।" यह सुन श्रीराम की चिंता दूर हुई । उनकी आज्ञा से राम-दल में यात्रा की तैयारियाँ होने लगीं ।

विभीषण पुष्पक-विमान ले आए । वह विमान विश्वकर्मा-नामक एक चतुर शिल्पी की कला-निपुणता का एक अनुपम आदर्श था । विश्वकर्मा ने उसकी रचना करते समय अपने कला-कौशल की हद कर दी थी । उसका आकार नाव के समान था, और उसमें बड़ा भारी गुण यह था कि वह चाहे जिस दिशा में चलाया जा सकता था, चाहे जहाँ ठहराया जा सकता था । उसमें प्रत्येक ऋतु के विचार से सुख के सभी साधन एकत्र किए गए थे । उसकी सुंदरता का तो कहना ही क्या, देवताओं के विलास की चीज़ ठहरी और फिर रावण-जैसे शौक़ीन और कला-कोविद के हाथ में रही । पुष्पक ख़ालिस स्वर्ण का बना था, पहिए उसके चाँदी के थे । बैठकें बड़ी सुंदर बनाई गई थीं । उन पर बड़े ही कोमल गद्दे बिछाए गए थे । चारो ओर सुंदर चित्र बने हुए थे, सजावट का तो कहना ही क्या, जहाँ दृष्टि पड़ती, वहीं हीरे-मोती आदि रत्नों की बहार दिखाई देती थी । उसमें असंख्य कमरे थे, किसी में पाकशाला थी, किसी में स्नान का प्रबंध था, किसी में व्यायाम, किसी में भोजन, किसी में शयन, और किसी में मनोरंजन का सुभीता था । एक कमरे में एक बड़ा-सा पुस्तकालय भी था । वायु शुद्ध करने के लिये उसमें स्थल-स्थल पर सुगंध-पूर्ण पुष्प-पौधे भी लगाए गए थे । ऐसे संदर विमान को देखकर श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए ।

सब से पहले सीताजी विमान पर सवार हुईं। इसके बाद लक्ष्मण-सहित श्रीराम उस पर सवार हुए। फिर उनकी आज्ञा से सुग्रीव, अंगद, हनुमान्, विभीषण, नल, नील आदि वीर भी उसमें जा बैठे। जब सब लोग यथा-स्थान सुख-पूर्वक बैठ गए, तब श्रीराम की आज्ञा से विभीषण ने उसका यंत्र चलाया। आकाश में पहुँचते ही विमान एक विशाल-काय पक्षी की नाईं उत्तर दिशा की ओर उड़ने लगा।

मार्ग में जो देखने योग्य स्थान आते थे, श्रीराम उँगली उठा-उठाकर सीताजी को दिखलाते जाते थे। चलते-चलते विमान किष्किंधा-नगरी पर जा पहुँचा। श्रीराम सीताजी से बोले—"प्रिये, देखो यही हमारे उपकारी बंधु सुग्रीव की राजधानी है। यहीं हमने बालि का वध किया था।" सीताजी की इच्छा सुग्रीव के घर की स्त्रियों से भेंट करने की हुई। उनकी इच्छा विदित होते ही विमान नीचे उतारा गया। सीताजी के आगमन से तारा, रूमा आदि राज-महिलाएँ बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने सीताजी की स्तुति की, पूजा की। सीताजी ने उन्हें भी अपने साथ विमान में बिठा लिया।

अब विमान किष्किंधापुरी से आगे बढ़ा। श्रीराम स्थान दिखलाते हुए सीता से कहते जाते थे—"प्रिये! यह पर्वत-श्रृंग देखो, यही ऋष्यमूक पर्वत है। यहीं सुग्रीव और हनुमान् से मेरी भेंट हुई थी। यह देखो, तमसा नदी आ रही है, यहाँ मैंने तुम्हारे लिये कितना विलाप किया था। वह देखो,

जन-स्थान है, उस वट-वृक्ष के निकट ही बेचारा जटायु तुम्हारे लिये युद्ध करते-करते रावण के हाथों मारा गया था। वह देखो, पंचवटी दिख रही है, वह वृक्षों की झुरमुट में हमारी झोपड़ी दिखाई दे रही है। अहा ! यह पुण्य-तोया गोदावरी भी आ गई ! याद है, हम लोग इसमें स्नान कर कितने प्रसन्न हुए थे ? लो, यह अत्रि महोदय का आश्रम भी आ गया, यहीं महा-सती अनुसूया तुम्हें गोद में लेकर आनंद-विभोर हो गई थीं। वह देखो, क्षितिज के निकट चित्रकूट दिखने लगा। याद है, यहीं भरत मुझसे मिलने आया था, यहीं माताजी तुम्हें गोद में लेती हुई रो पड़ी थीं। अब विमान तीर्थ-राज प्रयाग में पहुँचना ही चाहता है, यहीं महामुनि भरद्वाजजी का आश्रम है।"

प्रयाग पहुँचते ही विमान ठहराया गया। सब लोगों ने नीचे उतरकर मुनिवर के दर्शन किए। जब मुनिवर ने सीताजी के पातिव्रत-धर्म की महिमा सुनी, तब मारे आनंद के उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे, बोले—"अहा ! सतीत्व इसका नाम है ! क्यों न हो, देवीजी राजर्षि जनक की पुत्री, धर्म-प्राण दशरथ की पुत्र-वधू और धर्मावतार श्रीराम की पत्नी हैं न, भला वे क्यों न ऐसा अनुपम आदर्श उपस्थित करतीं।"

यहीं से श्रीराम ने हनुमान्‌जी को अपने आगमन की सूचना देने के लिये अयोध्या भेज दिया। जब हनुमान् नंदिग्राम में पहुँचे, भरतजी भ्रातृ-वियोग से विह्वल हो रहे थे, पुरोहित और

मंत्रिगण उन्हें समझा रहे थे, महाराज ! इतने अधीर न हों। आज चौदह वर्ष की अवधि समाप्त हो गई, हमारा विश्वास है कि कल ही श्रीराम के दर्शन कर हमारे तृषित नेत्र तृप्त होंगे। इसी समय हनुमान्‌जी ने उन्हें रामचंद्र के आगमन की सूचना दी। उस शुभ-समाचार को सुनते ही भरत के शरीर में जान आ गई, जैसे सूखते हुए धान पर पानी पड़ गया हो। आनंद के आवेग से भरत का रोम-रोम पुलकित हो गया। उन्होंने मंत्रियों को आज्ञा दी कि अयोध्या की ऐसी सजावट की जाय, जिसे देख इंद्र को अमरावती की शोभा भी फीकी जान पड़ने लगे। बात-की-बात में यह समाचार अयोध्या-भर में फैल गया। लोग आनंद की अधिकता से जैसे पागल हो उठे। आनंद की जैसे सरिता बह निकली। राज-कर्मचारी नगर की सजावट में व्यस्त हो गए। जहाँ देखिए, हरियाली-ही-हरियाली दिखाई देने लगी, राज-मार्गों ने हरित-रूप धारण किया, प्रत्येक घर के द्वार ने हरित-रूप धारण किया। मार्गों में सुगंधित द्रव्यों का इतना छिड़काव किया गया कि संपूर्ण अयोध्या-नगरी महक उठी। राह-बाट, गली-कूचे, सर्वत्र ध्वजा-पताकाएँ फहराने लगीं।

अब लोगों पर दूसरा पागलपन सवार हुआ। जो जैसा बैठा था, वह वैसी ही स्थित में नंदिग्राम की ओर चल पड़ा। जर्जर-शरीर माताएँ भी राज-पुरोहितों के साथ अपने खोए हुए धन को पाने के लिये नंद्रिग्राम की ओर चलीं। नंदिग्राम के आस-पास

एवं गली-कूचों में मनुष्य ही मनुष्य दिखाई देने लगे। तिल धरने को जगह न बची। स्त्रियाँ घरों की छतों पर जा चढ़ीं। सभी बड़ी आकुलता-पूर्वक टकटकी लगाकर आकाश की ओर ताकने लगे। रह-रहकर श्रीराम की ध्वनि से आकाश गूँजने लगा।

थोड़ी देर बाद आकाश में विमान की घर-घर ध्वनि सुनाई दी। लोग साँस रोककर ऊपर की ओर देखने लगे। विमान पर दृष्टि पड़ते ही लोगों के हृदय उछल उठे। फिर तो ऐसी जय-ध्वनि हुई, आनंद का ऐसा तुमुल-रव हुआ कि आकाश तक काँप उठा। प्यारी मातृ-भूमि के दर्शन कर, देश-वासियों का वह गहरा स्नेह-भाव देख, तीनो वन-वासियों का हृदय भर आया। गुरुवर वशिष्ठ, माताओं और मंत्रियों पर दृष्टि पड़ते ही श्रीराम ने विमान नीचे उतार लिया। वे नीचे उतरकर पाँव-पाँव चलने लगे। उन्हें देखते ही भरतजी उन्मत्त की नाईं दौड़े, और उनके पैरों से लिपट गए। श्रीराम ने उन्हें छाती से लगा लिया। दोनो के नेत्रों से अश्रु-धाराएँ बहने लगीं। अच्छा, अब श्रीराम को तो गुरुवर, मंत्रियों और भाइयों से मिलने दीजिए, विभीषण आदि सज्जनों को सबसे परिचित होने दीजिए, आप सीताजी की ओर देखिए।

सीताजी विमान से उतरते ही अपनी सासुओं की ओर बढ़ीं। उन्होंने पहले कैकेयी के चरणों में सिर झुकाया। कैकयी पश्चात्ताप की अग्नि से जली जा रही थीं। सीताजी की वह

विनम्रता, वह सुशीलता देख उन्हें बड़ा संकोच हुआ। वे फूट-

लोग साँस रोककर ऊपर की ओर देखने लगे (पृष्ठ २१०)

फूटकर रोने लगीं। तब सीताजी ने उनसे कहा—"मा ! मैं तुम्हारी दासी हूँ। तुम दासी से इतना संकोच क्यों करती हो ? मैं तुम्हारे स्नेह को ख़ूब जानती हूँ। यह तो हमारे भाग्य की विडंबना थी, जो तुम्हारे हृदय में इतना अतुल स्नेह रहते हुए भी हम लोगों को वन जाना पड़ा। पर हम लोग तुमसे तनिक भी अप्रसन्न नहीं हैं। तुम्हारी आज्ञा का पालन करने से हमारा कल्याण ही होगा।" यह सुन कैकेयी की ग्लानि दूर हो गई। उन्होंने सीताजी को हृदय से लगा लिया, और उनके सिर पर हाथ फेरकर उन्हें आशीर्वाद दिया। फिर सीताजी ने कौशल्या को प्रणाम किया। वे उनके चरण छूना ही चाहती थीं कि उन्होंने झपटकर "मेरी बच्ची, मेरी लक्ष्मी" कहते हुए सीता को छाती से लगा लिया। सासु-बहू की आँखों से चौधार आँसू बहने लगे। उनका वह विलाप, वह स्नेह देख, अन्य स्त्रियाँ भी रोने लगीं। वे दोनो को समझाने लगीं, पर न सासु बहू को छोड़ती थीं, न बहू सासु को। जब पुलक का आवेग कुछ कम हुआ, तब वे एक दूसरी से अलग हुईं। इसके बाद सीता ने सुमित्राजी के चरण छुए और उनसे भी आशीर्वाद प्राप्त किया।

लक्ष्मण पत्नी, सीताजी की छोटी बहन, उर्मिलादेवी अब तक मन मारे खड़ी हुई थीं। ज्यों ही सीताजी सासुओं से मिल चुकीं, त्यों ही उर्मिलादेवी "दीदी-दीदी" कहती हुई उनसे लिपट गईं। बहन और पति के वियोग में उर्मिला ने ये चौदह वर्ष आँसू पी-

पीकर और एक-एक पल गिनकर बिताए थे। उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया था। दुःखिती उर्मिला का वह कठोर त्याग—वह जर्जर शरीर देखकर सीताजी के हृदय पर कड़ी ठेस लगी, उन्होंने विह्वल होकर उर्मिला को हृदय से लगा लिया। उर्मिला का भरा हुआ हृदय छलक उठा। वे फूट-फूट-कर रोने लगीं। सीताजी उनके सिर पर हाथ फेरती हुई, उनका चुंबन करती हुई रोती-रोती बोलीं—"उर्मिला, शांत हो। भगवान् तेरी-सी बहन सब को दे। बहन, तूने मेरे लिये जो त्याग किया है, उसकी उपमा संसार में नहीं मिलेगी! तेरा पातिव्रत अनुपमेय है! उसकी झलक सती, पार्वती और सावित्री के पातिव्रत में भी नहीं है! तेरा ही नारी-जीवन सफल है! अब अधिक मत रो, तेरा विलाप सुनकर मेरी छाती फटती है।" इस प्रकार सीताजी ने बड़ी मुश्किल से उर्मिलादेवी को शांत किया। इसके बाद वे अपनी अन्य बहनों तथा अन्य स्त्रियों से बड़ी नम्रता-पूर्वक मिलीं। सयानी स्त्रियों ने उनकी बलाएँ लीं, उन्हें आशीर्वाद दिया, और कौशल्या के भाग्य की बार-बार सराहना की।

राम-लक्ष्मण भी सबसे मिले-भेंटे, सबसे उन्होंने कुशल-समाचार पूछे। सभी उनसे दो-दो बातें करना चाहते थे। उन्होंने सभी को संतुष्ट करने की चेष्टा की। उस आनंद-समारोह में—उस प्रेम-मिलन में, इतना अश्रु-वर्षन हुआ कि सभी की वियोग-वह्नि शीतल हो गई। फिर सब लोग आनंद से

किलकारियाँ मारते हुए उन वनवासियों तथा उनके साथियों को ससमारोह राज-प्रासाद की ओर ले चले। बार-बार अवधपति की जय-ध्वनि होती थी, स्त्रियाँ अपनी छतों पर से उन पर पुष्प-वर्षा करती थीं। घंटों के बाद वे अपने शैशव-काल के क्रीड़ा-भवन तक पहुँच पाए।

आज अयोध्या के सौभाग्य का प्रभात हुआ। प्रजा के हृदय आनंद से उत्फुल्ल हुए। माताओं के आकुल प्राणों ने शांति-लाभ किया। राज-भवन का सूनापन मिट गया। उसके अमावास्या के अंधकार में पूर्णिमा के चंद्रमा का उदय हुआ। आज चौदह वर्ष के उपरांत अयोध्या में दीपवाली का प्रकाश हुआ, उस प्रकाश में चिर उदासीन अयोध्या खिलखिलाकर हँस उठी।

राज्याभिषेक

दो-चार दिन के पश्चात्, जब राज-दरबार के सभी प्रतिष्ठित सज्जन उपस्थित थे, भरतजी ने हाथ जोड़कर नम्रता-पूर्वक श्रीराम से निवेदन किया—"आर्य! आप अपनी धरोहर का बोझ मुझ पर छोड़ गए थे, मैंने इन श्रीचरणों की पादुकाओं की संरक्षकता में यथाशक्ति उसकी रक्षा की। मैंने इन पादुकाओं की पूजा अत्यंत आदर, भक्ति और श्रद्धा-पूर्वक की है। इन्होंने ही अब तक अयोध्या का शासन किया है। मैं तो एक निमित्त मात्र था। अब आप इन्हें धारणकर अपनी धरोहर सँभालिए। आपके आशीर्वाद से अयोध्या की और राज-कोष की संपत्ति पहले से दसगुनी हो ही गई है। आज से आप मुझे जो आज्ञा देंगे, उसका पालन एक तुच्छ सेवक की नाईं करूँगा।" इसके बाद उन्होंने गुरु वशिष्ठजी से कहा—"पूज्यवर! अब महाराज के राज्याभिषेक की विधि शीघ्र ही हो जानी चाहिए।"

त्याग-वीर भरत की यह बात सुनकर सभी बहुत प्रसन्न हुए, और उनकी सराहना करने लगे। श्रीराम के नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आए। उसी दिन से अमात्य-वर्ग अभिषेकोत्सव की तैयारियाँ करने में व्यस्त हो गया। वशिष्ठजी ने उस महोत्सव की शोभा-वृद्धि के लिये विजय, जाबालि, कश्यप, गौतम

आदि अनेकानेक ऋषि-मुनियों को निमंत्रित किया। यथा-समय उन महा-तपस्वियों ने मिलकर श्रीराम को राज्यासीन किया, और वेदोक्त विधि से उन्हें राज-तिलक दिया। आज राम को राजा के रूप में पाकर अयोध्या सनाथ हो गई। इस समय संपूर्ण राज्य ने दिल खोलकर आनंद मानाया। इतना दान-पुण्य किया गया कि याचकों का जी छक गया।

इस अवसर पर श्रीराम ने सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि विपत-बंधुओं का भी ख़ूब सत्कार किया। उन्होंने उन्हें प्रचूर पुरस्कार देकर संतुष्ट किया। श्रीराम का राज्य-तिलकोत्सव देखकर सभी प्रवासी मित्र बहुत प्रसन्न हुए, जिसके लिये वे घर छोड़कर यहाँ तक आए थे, उसे सानंद संपन्न होता देख उनका जी जुड़ा गया। कुछ दिन के बाद सब ने जाने की ठहराई। तब श्रीराम विना रोए न रह सके, उन्होंने प्यारे मित्रों को हृदय से लगाकर बिदा किया। सब तो चले गए, पर हनुमान्‌जी न गए। श्रीराम और जनकदुलारी का औदार्य-पूर्ण दिव्य चरित्र देख, उन पर हनुमान्‌जी की भक्ति बहुत बढ़ गई थी, और अब उन्होंने अपना शेष जीवन उन्हीं के चरणों की सेवा करते-करते बिता देने का पुण्य संकल्प कर लिया था। अस्तु।

आज युवराज्ञी सीताजी महारानी हो गईं। जिस सिंहासन के लिये उन्हें एक दिन वन के विषम कष्ट सहने के लिये अयोध्या का त्याग करना पड़ा था, आज वही सिंहासन

अनायास उनके चरणों तले आ गया। वे विधिवत् उसके अर्द्ध-भाग की अधीश्वरी हो गईं, पर उनका हृदय अत्यंत विशाल, अत्यंत गंभीर था, उनके भावों में कोई अंतर नहीं पड़ा। जो भाव पहले था, वही अब भी रहा। उन्होंने हर्ष की किल-कारियाँ नहीं मारीं, पुलक के आवेग में उन्होंने उछल-कूद नहीं मचाई। मुखड़े पर पहले जो स्वाभाविक मुसकान थी, वही सम्राज्ञी का महत्पद पाने पर भी रही। बात यह कि वे उत्कृष्ट पतिव्रता थीं। पति के लिये उन्होंने अपने अस्तित्व तक को विस्मरण कर दिया था—पति के जीवन में उन्होंने अपना जीवन इस तरह मिला दिया था, जैसे शक्कर दूध में मिल जाती है। श्रीराम में ही उनका बृहत् साम्राज्य था, श्रीराम के चरणों की सेवा करना ही उनके जीवन का सबसे बड़ा सुख था। उनकी सबसे बड़ी साध यही रहती थी कि मैं पति-प्रेम की पवित्र निर्भरिणी का कल-कलरव अहर्निशि सुनती रहूँ—मेरे इस अनंत सुख में तनिक भी व्याघात न आने पावे। केवल इसीलिये श्रीराम के वन जाते समय उन्होंने इंद्र के ऐश्वर्य पर भी धूल डालनेवाले अपने विलास-भवन को उपेक्षा की दृष्टि से देखा था, और श्रीराम के बहुत समझाने पर उन्हें यही उत्तर दिया था—"नाथ ! सकल सुख साथ तिहारे।" उनके अंतर-प्रदेश में, जीवन के प्रत्येक मुहूर्त में, यही रागिनी गूँजती रहती थी। इसी रागिनी की मोहक ध्वनि से उन्मत्त हो, वे वल्कल-वसन धारण कर, श्रीराम के पीछे वन-पथ पर चलने

लगी थीं। इसी रागिनी की मधुर ध्वनि सुनते-सुनते वे बीहड़ वन के ऊबड़-खाबड़ पथ पर चलती थीं, उनके कोमल चरणों में कंकड़ और काँटे चुभ जाते थे, छाले पड़ जाते थे और उन्हें भान भी न होता था। इसी रागिनी की मतवाली तान सुनकर वे हँसते-हँसते वन के कड़वे-तीते कंद-मूल-फलों का भोजन कर लेती थीं। पति के चरण-कमलों का दर्शन कर एक अनंत सुख की अनुभूति से वे आत्म-विस्मृत हो जाती थीं। जब रावण उन्हें हर ले गया, वे अशोक-वाटिका में रक्खी गईं, तब अलबत्ता उन्हें दारुण मानसिक वेदना हुई थी, और वह इसीलिये, कि उनके नेत्रों के सामने पति के चरण-सरोरुह न थे, और उन्हें दूर-दूर तक जीवन-दायिनी उस रागिनी की पागल कर देनेवाली ध्वनि सुनाई नहीं देती थी—'नाथ ! सकल सुख साथ तिहारे।' उस समय केवल पति के चरणों का ध्यान करते-करते मुश्किल से उन्होंने अपने प्राणों की रक्षा कर पाई थी। पति के सामने आते ही उन्हें पुनः उस जीवन-दायक मंत्र की मर्म-स्पर्शिनी ध्वनि सुनाई पड़ने लगी, और वे अपने संपूर्ण विगत शोक-परिताप भूल गईं। वन जाते समय उन्हें जो सुख हुआ था, वही राज्याभिषेक के हँसते हुए अवसर पर भी था—उससे अधिक नहीं। उनके लिये जैसा वनवास का समय था, वैसा ही यह भी रहा, न वे दिन बुरे थे, न ये उनसे अधिक सुंदर! उनके लिये श्रीराम के साथ जैसा वन था, वैसा ही वैभव के भार से दबा हुआ

अयोध्या का राज-भवन ! सीताजी के आदर्श ने यही बहुमूल्य उपदेश पतिव्रताओं के सम्मुख रक्खा है कि पति ही नारी का धन है, पति ही नारी का राज्य है, और पति ही नारी का सुख है। दरिद्र और अकिंचन पति ही उसके लिये राजराजेश्वर है, और उसके साथ में रहने से उसके सामने पत्तों की कुटिया और विभूति से परिपूर्ण भवन एक समान हैं। जहाँ उसके सौभाग्य का विधाता है, वहीं उसके लिये स्वर्ग है, चाहे वह घोर दंडकारण्य हो, चाहे इंद्र की अमरावती।

आज युवराज्ञी सीता सम्राज्ञी के महत्पद पर प्रतिष्ठित हुई हैं। आज वे स्वामी के संपूर्ण राजैश्वर्य की अधीश्वरी हुई हैं, आज अगणित भृत्य-वर्ग उनके कृपा-कटाक्ष के भिखारी हो गए हैं, परंतु ऐसा महान् गौरव प्राप्त होने पर सीताजी को अभिमान नहीं हुआ है, वरन् वे नम्रता के बोझ से झुक गई हैं, जिससे उनकी सुशीलता, सौजन्यता और भी समुद्भासित हो उठी है। उनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल आयु और अवस्था ही परिवर्तित हुई है। स्वभाव में वे मानो अब भी शैशव-काल की नन्हीं-सी सीता बनी हुई हैं। यद्यपि उनमें एक गौरव-शालिनी सम्राज्ञी के सब गुण विद्यमान हैं, पर उन्होंने अपने व्यवहार से कभी अपने महत्पद का गर्व प्रकाशित नहीं किया। वे पहले जिस प्रकार अपनी सासुओं की पूजा करती थीं, अब भी उसी प्रकार करती हैं। यदि वे रोकती भी हैं, तो सीताजी नहीं मानतीं। कहती हैं, जब तक आप बनी

हैं, तब तक मैं पुण्य-संचय करने से क्यों वंचित रहूँ ? अपने दास-दासियों से भी वे पहले के समान ही शिष्ट व्यवहार करती हैं।

रही सीताजी की पति-सेवा की बात, सो वह तो उनके जीवन की एक साधना ही थी, उनका जीवन ही पति-सेवा-मय रहा, उसकी क्या चर्चा ? हाँ, अब उनकी इस साधना में पहले से कुछ अंतर अवश्य पड़ गया है। अब वे अपने कर्तव्य-पालन में और भी दत्त-चित्त रहने लगी हैं। जब श्रीरामजी राज-काज से निपटकर महल में आते हैं, तब सीताजी को अपनी प्रतीक्षा करती पाते हैं। उनके आते ही सीताजी अपने कार्य में व्यस्त हो जाती हैं। जब वे आराम करने के लिये लेटते हैं, तब सीताजी उनके पैर दाबती हुई उनसे राज-काज की सभी बातें खोद-खोदकर पूछतीं और कभी-कभी अपनी सम्मति भी प्रकट करती हैं।

सीता-परित्याग

महारानी-पद पर प्रतिष्ठित होते ही सीताजी का सौभाग्य ग्रीष्म-काल के प्रचंड मार्तंड की नाईं चमक उठा। उनके सुख-संभोग की सीमा न रही। अंत में वह समय आया, जिसे देखकर घर के समस्त जनों के रोम-रोम पुलकित हो उठते हैं। सीताजी का मुख पांडु-वर्ण की आभा से झलमलाने लगा, गर्भ के बोझ से उनकी गति मंथर हो गई। राज-भवन के समस्त जन उन पर दुलार की वर्षा करने लगे। अब सीताजी जो इच्छा करतीं, वह अविलंब पूर्ण की जाने लगी। उनका वह सौभाग्य देख श्रीराम भी मन-ही-मन पुलकित हुआ करते थे।

एक दिन संध्या के उपरांत कुछ देर पश्चात् श्रीराम राज-काज से निपटकर अपने विलास-भवन में लौटे। उस समय वे अत्यंत प्रसन्न थे। सीताजी उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। सीताजी को देखते ही उनका संपूर्ण स्नेह उमड़ उठा। वे सीताजी को हृदय से लगाते हुए बोले—"प्रिये। तुम इस समय आनंद के समुद्र में तैर रही हो। मैं जानता हूँ कि यद्यपि माताजी की देख-रेख में तुम्हारी समस्त अभिलाषाएँ अविलंब पूर्ण होती हैं, पर तुमने अब तक मुझसे कोई उपहार नहीं माँगा। इतना संकोच क्यों? जो तुम्हारी इच्छा हुआ करे,

निस्संकोच मुझसे कहा करो।" सीताजी उनके गले में हाथ डालती हुई पुलक के आवेग में बोलीं—"प्यारे! तुम्हारा अनंत प्यार ही मेरे जीवन का सर्व-श्रेष्ठ पुरस्कार है। तुम्हारा स्वच्छ सलिल-सदृश स्नेह प्राप्त कर मेरी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण हो गई हैं। पर, जब तुमने कहा है, तो कुछ याचना अवश्य करूँगी। तुम जानते हो कि मुझे प्राकृतिक दृश्यों और ऋषियों के आश्रमों के दर्शन करने की बड़ी उत्कंठा रहती है। मैं एक बार पुनः वन के वे नेत्र-रंजक दृश्य देखना चाहती हूँ। यदि तुम्हें कोई आपत्ति न हो, तो मुझे फिर एक बार ऋषियों के उन पवित्र आश्रमों के दर्शन करा दो। मेरी बड़ी साध है कि मैं मुनियों के दर्शन करूँ, उनकी पत्नियों और कन्याओं से मिलूँ-भेटूँ, तथा उन्हें अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण दान करूँ। पर तुम्हें भी साथ चलना पड़ेगा।" आह! कौन जानता है कि सीताजी की इस पवित्र अभिलाषा की ओट में उनका दुर्भाग्य कैसी प्रलयकारी मुसकान करता हुआ इठला रहा है।

श्रीराम हँसकर बोले—"प्रिये! मैं तुम्हारे हृदय की शुद्धता जानता हूँ। मेरा अनुमान था कि तुम मेरे कहने पर ऐसी ही कुछ साधारण अभिलाषा प्रकट करोगी। प्रातःकाल ही तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण की जायगी। राज-काज की अधिकता के कारण मैं तो न जा सकूँगा, पर आशा है, लक्ष्मण तुम्हारे साथ जाएँगे।"

सीता के सुख की सीमा न रही। दोनों प्रेमी बड़ी देर तक घुल-घुलकर बातें करते रहे। धीरे-धीरे सीता की आँखें झपने लगीं, वे श्रीराम की कोमल भुजा का सहारा ले सो गईं। राम अपनी उन आदर्श जीवन-संगिनी को, अपने स्नेह की उस साकार प्रतिमा को, उस सरलता से सोती देख आत्म-विस्मृत हो गए, वे एकटक उस सुप्त-सौंदर्य को अतृप्त नेत्रों से देखने और उनके सिर पर कोमलता-पूर्वक हाथ फेर-फेरकर स्नेह करने लगे। आह! कौन जानता है कि अभी क्षण-भर बाद कोई अदृश्य-शक्ति इस लबालब भरे हुए अमृत के प्याले में गरल घोल देगा।

इसी समय एक दासी ने वहाँ आकर अपनी वज्र-वाणी से वह सुख-स्वप्न भंग कर दिया। वह नम्रता-पूर्वक श्रीराम से बोली—"भगवन्! आपका विश्वस्त दूत दुर्मुख द्वार पर खड़ा हुआ है।" श्रीराम आदर्श राजा थे, उन्हें पाकर अयोध्या की राज्य-लक्ष्मी एकबारगी चमक उठी थी, प्रजा अपना समस्त कष्ट भूल गई थी। उनके राज्य में प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न था, न कहीं अशांति थी, न कहीं पाप होता था, न चोरी होती थी, समय पर वर्षा होती थी, धन-धान्य की प्रचुरता थी, सभी अपने धर्म का पालन करते और चैन की वंशी बजाते थे। न्याय का पालन ऐसी दृढ़ता-पूर्वक किया जाता था कि शेर-बकरी एक घाट पानी पीते थे। कहने का सारांश यह कि उनका राज्य धर्म का राज्य था। सदा उनकी यही चेष्टा रहती

थी कि प्रजा को किसी तरह का कष्ट न होने पाए, वह सदा संतुष्ट रहे। यदि ऐसा करने में कभी उनकी इच्छा के विरुद्ध भी कोई बात आ जाती, तो वे प्रजा-रंजन के लिये अपनी आत्मा पर अत्याचार करने में भी न चूकते थे। उनका सिद्धांत यही रहता था कि भले ही मेरी आत्मा के साथ अन्याय हो जाय, पर जनता संतुष्ट रहे। ऐसा करते समय वे तनिक भी कातर नहीं होते थे। यदि उन्हें डर था, तो दो बातों से—एक अधर्म से और दूसरे अपयश से। लोक निंदा-सहन करने की उनमें तनिक भी क्षमता न थी। लोक-निंदा के भय ने उनके हृदय को बहुत ही निर्बल कर दिया था। और कभी-कभी तो मिथ्या लोकापवाद के भय से वे अपने सत्य विश्वास को भी कुचल डालते थे। आह! एक दिन उनकी वह प्रजा की हित-चिंतना, उनकी वह लोक-निंदा के भय से उद्भूत कातरता, निरपराधिनी सीताजी के ही प्राणों की ग्राहिका हो गई।

प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है, राज्य-कर्मचारी उसे अनुचित रूप से त्रस्त तो नहीं करते हैं, प्रजा मेरे किसी कार्य से असंतुष्ट तो नहीं है—यह सब जानने के लिये महाप्राण श्रीराम ने बहुत-से कुशल गुप्तचर नियत कर रक्खे थे। श्री-राम भी सौ काम छोड़कर उनके संवाद बड़े चाव से—बड़े आग्रह से सुनते थे। दुर्मुख के आगमन की बात सुनते ही राम बैठकख़ाने ने चले आए। दुर्मुख उनके सामने उपस्थित हुआ। आज उसके चेहरे पर सदा के समान प्रसन्नता न थी,

विषाद की गहरी छाया ने विवर्ण कर रक्खा था। उसका वह भाव देखते ही राम सहम उठे। बोले—"दुर्मुख, आज तुम उदास क्यों हो? ऐसा कौन-सा भीषण समाचार है?"

हाय रे दुर्मुख! आज श्रीराम के समक्ष जाते समय तेरी जिह्वा कुंठित क्यों न हो गई। यदि तू चाहता, तो वह अकल्पित अनर्थ, जिसे देखकर दया भी रो उठी थी, काहे को होता! राम का प्रश्न सुन दुर्मुख के नेत्रों में अश्रु भर आए। वह रुद्ध-कंठ से बोला—"प्रभो! आपने मुझे क्यों यह कठोर कार्य सौंपा था! यदि इस समय मेरी जिह्वा के सौ टुकड़े हो जाते, तो मैं समझ लेता कि मैं सब कुछ पा गया। आह! आज की बात कैसे कहूँ, कलेजा मुँह को आता है। गला रुँध जाता है, नेत्रों के सामने अँधेरा छा जाता है! महाराज मत सुनिए वह बात! भीषण अनर्थ हो जायगा।"

हृदय को हिला देनेवाली यह भूमिका बाँधकर दुर्बुद्धि दुर्मुख चुप हो रहा। राम अत्यंत आकुल होकर बोले—"दुर्मुख, दुर्मुख! प्यारे दुर्मुख! इतने चंचल न हो। वह बात, चाहे उसके सुनने से मेरे हृदय के अणु-अणु में भले ही वह्नि-ज्वाला धधक उठे, अवश्य सुनाओ। कातर होकर कर्तव्य से विमुख न हो!" यह सुनकर दुर्मुख बोला—"हा प्रभो! मैंने नहीं सोचा था कि गुप्त-चर के इस नीच धंधे में पड़कर मुझे एक दिन ऐसा अप्रिय कर्तव्य पालन करना पड़ेगा। हाय! किस मुँह से वह बात कहूँ—मेरे मुँह में आग लग जाती!

प्रभो ! माता सीता रावण के यहाँ रहीं, और उन्हें आपने ग्रहण कर लिया—इस बात को लेकर बहुत-से लोग असंतुष्ट हैं, आपकी निंदा करते हैं।"

यह सुनते ही श्रीराम का माथा घूम गया। उनके चारो ओर अँधेरा छा गया। नेत्रों से अश्रु बहने लगे। "हा अभागिनी सीता ! किस अशुभ मुहूर्त में तुम्हारा जन्म हुआ था, किस बुरी घड़ी में तुमने मुझ अभागे का आश्रय ग्रहण किया था ! मैं तुम्हें सुखी न कर सका, दुःख सहते-सहते घुल-घुलकर मर जाने के लिये ही तुमने जन्म लिया है। हा मेरे प्राणों की प्राण ! मेरे चरणों की पूजा ही तुम्हारा असीम सुख है, पर विधाता ने तुम्हारे भाग्य में वह भी न लिखा। मैं जानता हूँ, कि मैं तुम्हारे रोम-रोम में रम रहा हूँ, तुम्हारा चरित्र पुण्य-सलिला गंगा के जल से भी अधिक विशुद्ध है, तुम्हारा चरित्र सूर्य-किरणों से भी अधिक उज्ज्वल है; पर प्रजा के मन को क्या करूँ। आह ! बुरा हो उस मुहूर्त का, जब मैंने प्रजा की रक्षा करने के लिये यह शासन-दंड ग्रहण किया था। इससे तो वह बीहड़ वन ही कहीं श्रेष्ठ था, वहाँ हम-तुम सुख से तो रहते—ये प्राण खानेवाली बातें तो न सुनते !" यह कहते-कहते कोमल-हृदय राम बिलख-बिलखकर रोने लगे। उन्होंने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न को बुला भेजा।

आज्ञा पाते ही तीनो भाई उस शोक-भवन में आ उपस्थित हुए। राम के नेत्रों से आँसू बहते देख वे घबरा उठे। राम ने

रोते-रोते उन्हें अपने कष्ट की बात सुना दी। सुनते ही लक्ष्मण के नेत्र लाल हो गए, गरजकर बोले—"आर्य! शीघ्र बताओ, किस अभागी ने चंद्र पर धूल फेकने की चेष्टा की है? शीघ्र बताओ, किसके सिर पर मृत्यु नाच रही है, जिसने रघुकुल की गौरव-लक्ष्मी के उज्ज्वल चरित्र पर संदेह किया है? मैं अभी उसे सपरिवार नष्ट नहीं कर दूँ, तो मुझे लक्ष्मण न कहना।"

श्रीराम उन्हें शांत करते हुए बोले—"भाई! इतने उत्तेजित न हो। प्रजा संदेह करती है, उसके मन पर तुम्हारा अधिकार नहीं। अब तो तुम रघु-कुल को इस भीषण कलंक से मुक्त करने की चेष्टा करो। विना सीता का परित्याग किए, रघु-कुल का यह दुःखद कलंक दूर न होगा। चाहे सीता के वियोग से मेरा समस्त सुख धूल में मिल जाय, चाहे उनके वियोग में रोते-रोते मेरे नेत्र ज्योति-हीन हो जायँ, तो भी कुल को कलंक से मुक्त करने के लिये मैं सीता को त्याग दूँगा—यह मेरा दृढ़ संकल्प है।"

यह सुन तीनो भाई अवसन्न हो रहे। उन्हें चुप देख राम बोले—"कल ही सीताजी को इस महल से अलग करना पड़ेगा। बोलो, कौन उन्हें वन में छोड़ने जायगा?" भरत बोले—"महाराज! क्षमा कीजिए, मुझसे यह घोर पाप न हो सकेगा। मैंने सदा सीताजी को माता मानकर उनकी पूजा की है। माता के आँसू देखना मेरा धर्म नहीं। आपकी बुद्धि में विकार हो गया है। मैं ऐसी बात सुनना भी नहीं चाहता।" यह कहकर भरत चले गए, शत्रुघ्न ने भी उनका साथ दिया।

अब रह गए लक्ष्मण ; राम रोते-रोते उनसे बोले—"भाई ! अब तो तुम्हीं से मेरी आशा है। भरत और शत्रुघ्न तो रूठकर चले गए। क्या तुम भी मेरी इच्छा पूरी न करोगे ?" लक्ष्मणजी बिगड़कर बोले—"कभी नहीं। अधर्म कमाने के लिये मेरा जीवन नहीं है। आप न्याय-प्रिय नरेश हैं। अन्य प्रजाजनों के समान सीता भी आपकी प्रजा हैं, आपको उन पर अन्याय या अत्याचार करने का क्या अधिकार है ? आप उनके साथ न्याय कीजिए, न्याय ! एक निर्बल और पति-प्राणा स्त्री को इस प्रकार कष्ट देने से आपकी शोभा-वृद्धि न होगी।" तब राम बहुत ही कातर होकर बोले—"भैया ! इतने निष्ठुर न बनो। मेरी परिस्थिति पर विचार करो। न्याय प्रजा के लिये है, राजा के लिये नहीं। मैं सीता को त्यागकर अपने पर ही अत्याचार कर रहा हूँ। आदर्श राजा वही है, जो प्रजा के प्रसन्नतार्थ स्वयं अत्याचार सहने के लिये तैयार रहे। तुम जानते हो, सीता के परित्याग से मेरा जीवन कैसा कंटकमय हो जायगा। परंतु वंश-मर्यादा की रक्षा और प्रजा के संतोष के लिये ही मैं अपने जीवन को दुःखाग्नि में झोंकने जा रहा हूँ। मैं राजा हूँ, तुम्हारा बड़ा भाई हूँ, मेरी आज्ञा का पालन करना तुम्हारा धर्म है। इसमें तुम अधर्म के भागी न होगे। मुझे निराश न करो।" लक्ष्मण ने रोते-रोते उत्तर दिया—"भैया ! छाती पर पत्थर रख तुम्हारी आज्ञा का पालन कर दूँगा। हाय ! मैं संसार में क्यों छोटा होकर उत्पन्न हुआ

था। स्मरण रखना, तुम्हारी इस कठोर आज्ञा का पालन मेरा हृदय नहीं, शरीर करेगा, और यह घड़ी आजीवन मेरे हृदय पर सुइयाँ चुभाती रहेगी। पर, यह भी सोचा है कि जब माताएँ यज्ञ ⊛ समाप्त होने पर लौटेंगी, तब इस दारुण संवाद से उन्हें कितना कष्ट होगा?" राम कुछ संतुष्ट होकर—"तुम इसकी चिंता न करो। माताओं को मैं मना लूँगा। आज सीताजी ने मुझसे वन जाने की इच्छा भी प्रकट की थी, मैं उन्हें जाने की आज्ञा भी दे चुका हूँ। सवेरा होते ही उन्हें लिवा जाना और गंगा के उस पार छोड़ आना।" लक्ष्मण यह कठोर आज्ञा सुनकर चुपचाप वहाँ से चले गए, घोर वेदना जैसे उनके हृदय को चीरने लगी।

प्रातःकाल हुआ। क्षितिज पर सीता का दुर्भाग्य चमक उठा। लक्ष्मण रथ सजाकर सीताजी के पास पहुँचे और बोले—"मा! तुम तैयार हो गईं न? रथ द्वार पर खड़ा है।" सीताजी पुलकित हो रथ पर सवार हुईं। रथ हवा से बातें करने लगा। सीताजी वन, उपवन, नदी, सरोवर आदि की प्राकृतिक शोभा देख मुग्ध होने और मन-ही-मन सोचने लगीं—अहा! मेरे स्वामी कैसे सरल-हृदय और स्नेह-शील हैं! वे मुझे कितना चाहते हैं! मेरी इच्छा जानते ही वे उसे प्राण-पण से पूर्ण करने की चेष्टा करते हैं। भोली भाली सीताजी का वह आनंद

⊛ ऋष्य-शृंग श्रीराम के बहनोई थे। इस समय उन्होंने यज्ञ किया था। निमंत्रण पाकर श्रीराम की समस्त माताएँ उन्हीं के यहाँ गई थीं।

देख लक्ष्मण भीतर-ही-भीतर रोने लगे। परंतु इसी समय सीताजी का हृदय सहसा अकुला उठा, उनका दाहिना नेत्र फड़कने लगा। उन्होंने अपने मन को बहुत समझाया, पर वह शांत न हुआ। इसी समय लक्ष्मण के उदास चेहरे को देख वे और भी अकुला उठीं, बोलीं—"लक्ष्मण! मेरा जी ठिकाने नहीं है। वह एक अज्ञात आशंका से उद्वेलित हो रहा है। तुम भी उदास हो रहे हो। बात क्या है? अयोध्या में तो सब कुशल है न?"

आह! सरल-हृदया सीता नहीं जानतीं कि अभी उन पर दुःख का कैसा वज्र गिरनेवाला है। लक्ष्मण के प्राण छटपटाने लगे, तो भी वे हृदय को कड़ाकर सीता को समझाते गए। दो दिन के पश्चात् रथ गंगा-तीर पर पहुँचा। अब तो लक्ष्मणजी किसी भी तरह अपने हृदय को न सँभाल सके, उनके नेत्रों से बेरोक अश्रु-प्रवाह बहने लगा। सीताजी व्याकुल होकर बोलीं—"भैया! पुण्य-सलिला भागीरथी को देखकर तुम रोने क्यों लगे? मेरा हृदय भी अधीर हो रहा है। शीघ्र बतलाओ, किसी अमंगल की आशंका तो नहीं है? मेरे स्वामी तो सकुशल हैं? मुझे जल्दी गंगा-पार ले चलो। मैं आश्रमों के दर्शन कर, मुनि-पत्नियों को ये वस्त्राभूषण दानकर, अभी अयोध्या को लौटूँगी, और प्राणनाथ के दर्शन करूँगी।"

लक्ष्मण नौका का प्रबंधकर, सीता को ले गंगा के उस पार पहुँचे। हाय! यही वह स्थल है, जहाँ श्रीराम की आज्ञानुसार

सीताजी को दुर्भाग्य के गहन अंधकार में छोड़ देना है। अब तो लक्ष्मण के धैर्य का बाँध टूट गया! वे बिलख-बिलखकर रोने लगे। सीताजी अत्यंत आतुर होकर बोलीं—"भैया! मैंने तो तुम्हें आज तक इस तरह अधीर होते नहीं देखा। बात क्या है, कहते क्यों नहीं? कौन वेदना तुम्हें इस प्रकार विह्वल कर रही है?" लक्ष्मण "मा-मा!" कहकर उनके पैरों से लिपट गए और बोले—"मा! मेरा कोई अपराध नहीं है। हाय! मैं यह दिन देखने के लिये क्यों जीवित रहा—इसके पहले ही मृत्यु ने मुझे क्यों न उठा लिया!"

सीताजी अपने अंचल से उनके आँसू पोंछती हुई बोलीं—"वत्स! ऐसी अमंगल-पूर्ण बात क्यों करते हो! जो दुःख तुम्हें इस तरह व्याकुल कर रहा है, उसे निकाल डालो। कह दो, वह कौन-सी बात है, जो तुम्हारी जिह्वा को कुंठित कर रही है। तुम्हारा क्लेश मेरे हृदय को फाड़े डालता है। शीघ्र कहो, मैं अपने दुर्भाग्य की घोषणा सुनना चाहती हूँ।" लक्ष्मण छाती पीटकर बोले—"मा! मैं किस मुँह से वह बात कहूँ। हाय-हाय! मेरी जीभ कटकर क्यों नहीं गिर पड़ती। भैया! तुम बड़े निष्ठुर हो—मुझ अभागे पर तुमने क्यों यह निर्दयता की? मा! ईश्वर जानता है, मैं बिलकुल निरपराधी हूँ। मुझे दोष न देना, मुझपर रुष्ट न होना। तुम रावण के यहाँ रही हो, प्रजा तुम्हें संदेह की दृष्टि से देखती है। इसी मिथ्या भय से व्याकुल हो भैया ने तुम्हें त्याग दिया है।

यही वह स्थान है, जहाँ भैया ने मुझे तुम्हें छोड़ देने की आज्ञा दी है।"

यह सुनते ही सीताजी मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। लक्ष्मण बड़ी कठिनाई से उन्हें होश में ला सके। सीताजी हृदय-विदारक विलाप करती हुई बोलीं—"वत्स! मुझ अभागिनी के लिये शोक न करो। जब मेरा भाग्य ही फूटा है, तब मेरे लिये कोई क्या करेगा! इसमें न तो तुम्हारा ही कुछ अपराध है, और न आर्य-पुत्र का ही। जान पड़ता है, विधाता ने अनंत दुःख भोग करने के लिये ही मुझे संसार में भेजा है; नहीं तो परम-प्रतापी रघु-कुल की वधू होने पर भी मेरी यह दुर्गति क्यों होती। आर्य-पुत्र निरपराधिनी जानकर भी मेरा त्याग कर रहे हैं, यह मेरा दुर्भाग्य ही है। दुःख है, तो यही कि अब मैं उनके श्री-चरणों से दूर हो गई, अब मैं उन पुण्य-चरणों के पुनीत दर्शन से वंचित हो गई। हाय! अब मैं किसके सामने अपना दुखड़ा रोऊँगी? अब मैं किसके सामने अपना हृदय खोलकर रक्खूँगी? अब कौन मेरे सुख-दुःख की बातें पूछेगा? सब से बड़ा दुःख यह है कि मैं अपना यह कलंकित मुख किसे दिखाऊँगी? जो सुनेगा, यही कहेगा, सीता ने कोई भयंकर पाप किया होगा, तभी अयोध्यापति ने उसका त्याग कर दिया। आह! यदि आज मेरे गर्भ में आर्य-पुत्र का वंशधर न होता, तो मैं आत्म-हत्या कर इस विषय लांछना से मुक्ति पा जाती। लक्ष्मण! इस अभागिनी के लिये मत रोओ, मैं तुम पर क्यों रुष्ट होऊँगी।

तुमने तो आर्य-पुत्र की आज्ञा का पालनकर अपने धर्म की रक्षा की है।" इतना कह वे सिसक-सिसककर रोने लगीं।

लक्ष्मण उन्हें समझाने लगे—"मा ! इतनी अधीर न हो। जिसके हृदय में तनिक भी विचार-शक्ति होगी, वह तुम्हें कलंकिनी नहीं समझ सकता। क्या हुआ, भैया ने तुम्हें त्याग दिया, पर पवित्रता तो तुम्हारे साथ है, धर्म तो तुम्हारे चरणों तले लोटता है। जहाँ तुम रहोगी, वहीं स्वर्ग की शोभा विलास करेगी। भैया ने तुम्हारा नहीं, अयोध्या की राज्य-लक्ष्मी का त्याग किया है। भैया ने तुम्हें नहीं, हमारे सौभाग्य को ठुकराया है। हाय मा ! मैं पराधीन हूँ, सेवक-धर्म की फाँसी मेरे गले में न पड़ी होती, तो मैं प्राण देकर भी तुम्हारी रक्षा करता। मा ! हृदय के विश्वास को अटल रक्खो, तुम्हारे इस त्याग से, तुम्हारी इस साधना से रघु-कुल की गौरव-श्री चमक उठेगी। निकट ही महर्षि वाल्मीकि का आश्रम है। वे हमारे पिता के बड़े मित्र हैं। वे तुम्हें स्नेह-पूर्वक अपने पवित्र आश्रम में स्थान देंगे मुझे विश्वास है, वहाँ तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न होगा। पर मा ! इस सेवक को न भूल जाना, इसपर कृपा-दृष्टि बनाए रखना।"

सीताजी बिसूरती हुई बोलीं—"वत्स ! यह मेरा सौभाग्य था, जो मैंने तुम-जैसा देवर पाया। भगवान् सभी स्त्रियों को तुम-जैसा देवर दे। अब तुम लौट जाओ। पर अपने भाई से कह देना कि मुझे निष्कलंकिनी जानकर भी उन्होंने मेरा जो

त्याग किया है, मिथ्यापवाद के भय से मुझे त्याग कर जिस आत्म-निर्बलता का परिचय दिया है, वह उन-जैसे पुरुष-श्रेष्ठ के योग्य कार्य नहीं हुआ। वे न्याय-प्रिय हैं, उन्हें मेरे साथ न्याय करना चाहिए था। संपूर्ण साम्राज्य उनकी न्याय-निष्ठा से लाभ उठाता है, मैं भी तो उनकी प्रजा हूँ, क्या मैं उनकी न्याय-निष्ठा की अधिकारिणी नहीं थी ? आगे आनेवाली संतान उनके इस कार्य की ओर अँगुली निर्देशकर कहा करेगी—'भगवान् ने किस न्याय के आधार पर सीता का परित्याग किया था ?' इस अन्याय से उनकी प्रतिष्ठा घटेगी ही, बढ़ेगी नहीं। पर अब इससे क्या, अब तो मैं संसार से अलग ही कर दी गई ; परंतु उनके चरणों से मेरा अनुराग कम नहीं हुआ, अब उनके चरणों का ध्यान ही मेरे जीवन का आधार होगा। भैया ! उनसे कह देना मैं भी उनके साम्राज्य की तुच्छ प्रजा हूँ और नहीं, तो केवल इसी नाते से मेरा स्मरण रक्खेंगे। वत्स ! मेरी बहनें मेरे इस वियोग से परम कातर होंगी, उन्हें ढाढ़स देते रहना। जब मेरी सासुएँ ऋष्य-शृंग के यहाँ से लौट आएँ, तब उनसे मेरा प्रणाम कहना, और मेरी ओर से निवेदन कर देना कि वे इस अभागिनी को याद कर अपने जी को दुःखी न करें। हा ! मैं इस अनंत विछोह के समय उनके दर्शन भी न कर पाई। वत्स ! अब लौट जाओ, अब माया के इस बंधन को और कठिन करने की आवश्यकता नहीं।"

लक्ष्मणजी ने सीताजी के चरण छुए, उनकी प्रदक्षिणा की, और कहा—"मा ! मैं जाता हूँ। मुझे आशीर्वाद देती रहना।" वे आँसू पोंछते-पोंछते नाव में जा बैठे। माँझी ने नाव खोल दी।

वाल्मीकि के आश्रम में

जब तक लक्ष्मणजी दिखते रहे, सीताजी उन्हें एकटक दृष्टि से देखती रहीं। जब वे गंगा-पार हो गए, आँखों से ओझल हो गए, तब सीताजी सिर धुनने और रोने लगीं। उनके करुण विलाप से—उनके उस मर्म-वेधी हाहाकार से गंगा का तट गूँज उठा, पशु-पक्षी दयनीय दृष्टि से उनकी ओर ताकने लगे। गंगा-जल से शीलत हुई वायु उनके आँसू पोंछने की चेष्टा करती थी, पर हृदय की अग्नि उस जल-धारा को और-और बढ़ाती जाती थी। सीताजी बुद्धिमती थीं, अपने मन को बहुत समझातीं, पर वह धीरज नहीं धरता था। रह-रहकर उमड़ उठता था। देवता के समान स्वामी की गोद से अलग होने पर सती को सुख कहाँ? स्वामी के स्नेह ने उन्हें व्याकुल कर दिया। वे कातर वाणी से रो-रोकर उस वन के अणु-अणु में करुणा भरने लगीं।

दैव-वशात् उस समय वाल्मीकि मुनि के आश्रम के कुछ तपस्वी बालक फल-फूल बीनते हुए वहाँ आ पहुँचे। सीता का विलाप सुन उनके प्राण व्याकुल हो गए, छाती फटने लगी। दौड़े-दौड़े वाल्मीकि के निकट पहुँचे, और हाथ बाँधकर बोले—"भगवन्! सूर्य की प्रभा के समान एक तेजस्विनी देवी गंगा-तट पर करुण विलाप कर रही है! उनके घोर हाहाकार

से कलेजा बाहर निकलने लगता है। हमने उससे कोई बात नहीं पूछी। सीधे आपके पास चले आए।"

महर्षिजी तुरंत वहाँ आ पहुँचे। सीताजी की वह दशा देख उनका हृदय भर आया। उन्होंने स्नेह-पूर्ण कंठ से कहा—"बेटी! मैं जानता हूँ, तुम कौन हो। हमारा सौभाग्य है कि तुम यहाँ आ पहुँचीं। तुम्हारी चरण-धूलि से मेरा आश्रम पवित्र हो गया। तुम इतनी कातर न हो, मैं जानता हूँ, तुम श्रीराम के प्रति अविश्वासिनी नहीं हो। उनके हृदय में तुम्हारे प्रति स्नेह की वही पवित्र धारा प्रवाहित हो रही है, और तुम्हें खोकर वे भी तुम्हारे ही समान छटपटा रहे होंगे, तुम्हें खोकर अयोध्या का राज्य-लक्ष्मी तेज-हीन हो गई है। बेटी, अब यह दुःख-परिताप त्याग तुम मेरे यहाँ चलो। मैं तुम्हें वह वस्तु दूँगा, जो पीहर में तुम्हें राजर्षि जनक और अयोध्या में देवी कौशल्या प्रदान करती थीं। तुम मेरी पुत्री के समान आश्रम में रहोगी।"

डूबती को तिनके का सहारा मिला। सीताजी ने ऋषि को प्रणाम किया। वे उनके साथ आश्रम में चली गईं। ऋषिजी ने उनके लिये एक सुंदर-सी कुटिया खाली करा दी। ऐश्वर्य की गोद में विलास करनेवाली सीता देवी अब आश्रम-वासिनी हुई हैं, राज-वधू का वेश त्याग, अब उन्होंने तपस्विनी का वेश धारण कर लिया है। अब आश्रम की कन्याएँ उनकी सखियाँ हैं, और आश्रम के पशु-पक्षी उनके दुःख के श्रोता। ऋषिजी

ने ऐसा सुप्रबंध कर रक्खा था कि सीताजी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए, पर उनके हृदय में पति-वियोग की जो भट्टी धधक रही थी, वह शांत नहीं हुई। ऋषिजी संध्या-सबेरे उन्हें धर्म-शास्त्र का कितना ही उपदेश देते थे, पर उनके हृदय के पर्दे-पर्दे में जो वियोग-वह्नि सुलग उठी थी, उसका उत्ताप कम नहीं होता था। ऋषिजी उन्हें आश्वासन देते थे कि बेटी, तुम शोक न करो, तुम शीघ्र ही दो तेजस्वी पुत्रों की माता होगी, उन्हें देखकर तुम्हारा रोम-रोम पुलकित हो उठेगा। पर यह आश्वासन उनकी वियोगाग्नि को शीतल करने के बजाय और भी धधका देता था। हृदय की जलन, पति-चरणों का ध्यान और नेत्रों के आँसू ही सीताजी को जीवन-यात्रा में साथ दे रहे थे।

यथासमय सीताजी दो पुत्रों की माता हुईं। उन कुसुम-समान पुत्रों के चंद्र-मुख देख जहाँ सीता का हृदय आनंद से उमड़ उठा, वहाँ पति की स्मृति से वे अत्यंत कातर भी हो उठीं। वे फुक्का फाड़ के रोने लगीं। तब आश्रम-वासिनी कन्याएँ उन्हें समझाने लगीं—"बहन! तुम्हारा सौभाग्य जागा है, आज तुम्हारा नारी-जीवन सफल हो गया, ऐसे आनंद-मय अवसर पर विलाप न करो।" सीता बोलीं—"बहनो! मैं रोती नहीं, अपने हृदय की कसक निकाल रही हूँ। हाय! यदि इस समय यहाँ प्राणनाथ होते, तो यह अवसर कैसा सुंदर हो जाता। पर उन्होंने तो भूलकर भी मेरी सुधि नहीं ली—वे

मुझे भूल गए। सीताजी बड़ी देर तक रोती रहीं। सखियों के बहुत कुछ समझाने पर उन्हें प्रबोध हुआ।

ऋषिजी ने बड़े आनंद से जात-कर्म करके उन बालकों का नाम लव और कुश रक्खा। राज-वधू सीता तपस्विनी के वेश में उन रघु-कुल-दीपकों का पालन-पोषण करने में प्रवृत्त हुईं। उनकी उस दुःख-निशा में वे सुंदर बालक युगल चंद्र के समान सुख का प्रकाश करने लगे। वाल्मीकि का वह शांत स्निग्ध तपोवन बालकों की कलित-किलकारियों से गूंजने लगा। जब बालक कुछ बड़े हुए, तब सीताजी उन्हें शिक्षा देने के लिये व्यग्र हुईं, पर ऋषिजी ने उनकी वह व्यग्रता बहुत देर तक न ठहरने दी। उन्हों ने स्वयं बालकों को शिक्षा देने का भार ग्रहण किया। ऋषि की आदर्श शिक्षा से दोनो राजकुमार शीघ्र ही शास्त्र और शस्त्र-विद्या में निष्णात हो गए। यद्यपि वे तपस्वी के वेश में रहते थे, पर उनके शरीरों से राज-तेज-जैसे बरसा पड़ता था।

महर्षिजी ने राम-चरित्र को लेकर 'रामायण'-नामक एक अत्यंत ललित महा-काव्य की रचना की थी। उन्होंने लव-कुश को वह महा-काव्य भी भली भाँति पढ़ा दिया था। वे उसे वीणा के सुर में सुर मिलाकर बड़े ही मनोहारी ढँग से गाने लगे। उनका यह रामायण-गान ऐसा सरस और आकर्षक होता था कि उसे सुनकर पशु-पक्षी भी स्तब्ध रह जाते थे। और सीताजी? वे अपने प्यारे पुत्रों के मुख से अपने प्यारे पति

का कीर्ति-गान सुन, आनंद की अनुभूति में बेसुध-सी हो उठती थीं—अपने अतीत के उन सुखमय दिनों की याद कर उनके नेत्रों-से आँसुओं की झड़ी लगा जाती थी।

यद्यपि सीताजी को ऋषिजी के आश्रम में कोई कष्ट नहीं था, यद्यपि पुत्रों के रूप में उन्हें नारी-जीवन का सर्व-श्रेष्ठ पुरस्कार मिल गया था, पर उनके हृदय में राम-विरह-दुःख से जो गंभीर घाव हो गया था, वह पुर न सका। यद्यपि काल-प्रवाह मनुष्य के दारुण-से-दारुण शोक को धो बहाता है, पर यहाँ तो सीताजी के रोम-रोम में शोक की गंभीर धारा समा चुकी थी, काल उसे बहा ले जाने में या उसे शुष्क कर डालने में कैसे समर्थ होता? जब तक लव-कुश गोद में रहे, सीताजी उनका पालन करती हुई किसी प्रकार अपने अश्रुमय दिवस बिता देती थीं, पर अब पुत्र बड़े हो गए थे, उन्होंने माता की गोद त्याग दी थी, अब कैसे वह कठोर दुःख-दिवस व्यतीत होते? जब तक पुत्र आँखों के सामने रहते, उनका जी बहला रहता, पर ज्योंही वे बाहर चले जाते, उनके हृदय-देश में शोक की घटा उमड़ आती, और आँखों द्वारा झर-झर करके बरसने लगती। यद्यपि राम ने उन्हें त्याग दिया था, पर उनका मन राम को न त्याग सका। दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने, वर्ष-पर-वर्ष बीत गए, कितनी ही वर्षा की प्रचंड वारि-धाराएँ, कितनी ही शीत की हृदय फाड़नेवाली ऋतुएँ और कितनी ग्रीष्म की रोम-रोम जलानेवाली ऋतुएँ आकर चली गईं, पर

सीता के हृदय में राम के प्रति स्नेह की जो निर्झरिनी प्रवाहित हो रही थी, उसकी गति मंद नहीं हुई, उल्टा और बढ़ गई। सीता का मन राम के चरणों से न हट सका। उनका शरीर अयोध्या से बहुत दूर वाल्मीकि के आश्रम में था, पर मन अयोध्या से, अपने प्यारे के निकट से, न हट सका, वह तो राम के चरणों का ही चुंबन करता रहा। ज्यों-ज्यों बालक बड़े होते जाते थे, त्यों-त्यों उनका मन बालकों की चिंता छोड़कर पति की चिंता में ही व्यस्त होता जाता था। धीरे-धीरे उनका एक ही धर्म, एक ही ध्यान और एक ही कर्तव्य रह गया—पति के चरणों का चिंतन करना। पति के चरणों का ध्यान करते-करते वे अपने आप को मिटाने लगीं। पति-विरह-कातरा सीताजी दिन-दिन घुलने लगीं। उनका वह सोने-जैसा दमकता हुआ रंग उड़ गया, चंद्र को निष्प्रभ करनेवाला, उनके मुख का वह चमचमाता हुआ लावण्य श्यामलता में परिवर्तित हो गया, शरीर का संपूर्ण सौंदर्य न-जाने कहाँ जा छिपा। वे दिन-दिन क्षीण होने लगीं। अंत में सूखकर काँटे सदृश्य हो गईं।

इसी प्रकार शोक-सागर की विषम तरंगों में डूबते-उतराते सीताजी ने वाल्मीकि के आश्रम में बारह वर्ष बिता दिए।

लीला-संवरण

मनुष्य आवेश में आकर अनुचित कार्य कर तो डालता है, पर पीछे प्रायश्चित्त की अग्नि में उसकी आत्मा छटपटाने लगती है। यही दशा श्रीराम की भी हुई, उन्होंने सीता को त्यागते त्याग तो दिया, पर अब उनके प्राण उस सती-प्रतिमा के दर्शन के लिये आकुल रहने लगे। सीता को खोकर उन्होंने क्षण-भर के लिये भी शांति नहीं पाई। सीता का स्नेह उनके हृदय के पर्दे-पर्दे में समा चुका था। अब सीता के विना उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। राज-काज के कार्य दूभर जान पड़ते थे, वह सुख की लीला-भूमि राज-भवन उन्हें काटने को दौड़ता था। जब वे बाहर से अपने सूने विलास-भवन में आते, तब उनके शरीर के अणु-अणु में वियोगाग्नि धधक उठती। सीता वहाँ से चली गई थीं, पर वहाँ की एक-एक वस्तु में उनकी मधुर स्मृतियाँ भरी हुई थीं, पर अब वे श्रीराम के हृदय को पुलकित नहीं करती थीं, खरोंचती थीं। घर में आते ही उनके नेत्र सजल हो उठते, वे सोचने लगते—हा! वह प्रेम की पवित्र प्रतिमा कहाँ है! जो फूल शीश पर चढ़ाने योग्य था, उसे मैंने निर्भयता-पूर्वक पैरों से कुचल डाला। हा! उस समय मेरी बुद्धि को क्या हो गया—उसे कौन-से पिशाच ने ग्रस लिया था। परंतु वे महत् हृदय थे—कर्तव्य-शील थे।

जिस प्रजा की प्रसन्नता के लिये उन्होंने अपने हृदय के उस धन को, जिसकी तुलना संसार की किसी वस्तु से नहीं हो सकती, निर्दयता-पूर्वक ठुकरा दिया था—उसके पालन-पोषण में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने दी। प्रजा सुखी और संतुष्ट रहे—यह ध्येय उनके हृदय से एक बार भी च्युत नहीं हुआ। वे बड़ी तत्परता से राज्य-कार्य में संलग्न रहे, पर सीता के विना उनका शरीर निष्प्राण था, उसमें जीवन और उत्साह की स्फूर्ति नहीं थी, केवल एक मूर्ति कठपुतली की नाईं राज्य-सूत्र का संचालन कर रही थी।

इसी प्रकार होते-करते बारह वर्ष बीत गए। श्रीराम ने अश्वमेध-यज्ञ करने का निश्चय किया। उनका वह पवित्र निश्चय सुन समग्र राज-सभा उल्लसित हो उठा। गुरु वशिष्ठ-जी बोले—"राजन्! आपका निश्चय सुन मैं बहुत सुखी हुआ। परंतु हिंदू-शास्त्र के अनुसार पुरुष विना सहधर्मिणी के सहयोग के किसी भी धार्मिक कृत्य को करने का अधि-कारी नहीं हो सकता। आप तो लोकापवाद के मिथ्या भय से देवी सीता का त्याग कर चुके हैं, तब अकेले कैसे यह महा-कृत्य संपादन कर सकेंगे? इसलिये मैं समझता हूँ कि पहले आपका विवाह हो जाना उचित है।"

श्रीराम के नेत्र डबडबा आए, बोले—"गुरुवर! विवाह की चर्चा छेड़कर मेरी चोट खाई हुई आत्मा पर और चोट न कीजिए। यदि विवाह ही करना होता, तो सीता के विरह में

ये बारह वर्ष रो-रोकर न बिता देता। जिस हृदय पर सीता की पवित्र मूर्ति स्थापित है, वह दूसरी स्त्री की छाया से भी अपवित्र नहीं किया जा सकता। मेरी समझ में जिस प्रकार स्त्री का विवाह एक बार होता है, उसी प्रकार पुरुष का विवाह भी एक ही बार होना चाहिए। विवाह स्त्री-पुरुष के पवित्र प्रेम की अमर-अचल ग्रंथि है, जो न नष्ट की जा सकती है, और न शिथिल। मैंने इस विषय में यह निश्चय किया है कि मैं सीता की स्वर्णप्रतिमा बनवाकर यज्ञ-समय के लिये पत्नी का अभाव पूर्ण कर लूँगा।"

श्रीराम का यह एक-पत्नी-व्रत देख संपूर्ण सभा मुग्ध हो गई। सभी "वाह-वाह" करने लगे। वशिष्ठजो संतुष्ट होकर बोले—"वत्स! तुम्हारी बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। सच पूछो, तो तुमने मेरे मन को बात कही है। तभी तो तुम्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम कहने को जी चाहता है। तुम्हारा यह आदर्श अनंत काल तक अमर बना रहेगा।"

समारोह-पूर्वक यज्ञ का आयोजन होने लगा। सगे, संबंधियों, ऋषि-मुनियों, देश-देश के राजाओं और विश्व-वंद्य विद्वानों के पास निमंत्रण-पत्र भेजे जाने लगे। वाल्मीकिजो को भी निमंत्रण मिला। सीताजी की दयनीय दशा देख वाल्मीकि को रोना आ जाता था। वे इसी उधेड़-बुन में रहते कि कोई अच्छा अवसर पाता, तो इस दुखियारी को पति से मिला देता। यज्ञ का निमंत्रण पा कुछ सोचकर वे उल्लसित

हो उठे, दौड़े-दौड़े सीता के पास पहुँचे, और बोले—"बेटी ! अयोध्याधिप राम अश्वमेध करनेवाले हैं। मुझे भी निमंत्रण मिला है, यदि तुम्हें कोई उज्र न हो, तो मैं लव-कुश को भी लेता जाऊँ।" सीताजी ने उत्तर दिया—"पिता ! आपके वे सेवक हैं। इसमें मुझसे पूछने की क्या आवश्यकता। आप प्रसन्नता-पूर्वक उन्हें ले जाइए।"

सीताजी श्रीराम के अश्वमेध-यज्ञ के समाचार से विशेष चिंतित हुईं। यह उनकी नई चिंता थी। उन्हें मालूम था कि धर्म-कार्य स्त्री के सहयोग से ही पूर्णता को प्राप्त होते हैं। वे सोचने लगीं—"यज्ञ में रामचंद्र की धर्म-पत्नी का कार्य कौन सँभालेगा ! जान पड़ता है, अब मैं उनके चित्त से भी उतर गई, उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया है। हा ! मेरे सुख का जो एक क्षीण आधार शेष रह गया था, अब वह भी नष्ट हो गया।" राम के प्रति प्रेम की यह त्रुटि-कल्पना करके सीताजी सौ-सौ वृश्चिक-दंशन की पीड़ा का अनुभव करने लगीं।

इसी समय लव-कुश खेलते हुए वहाँ आ पहुँचे, और सीताजी से लिपटकर बोले—"मा ! ऋषिजी कहते थे, वे हमें रामचंद्रजी का अश्वमेध यज्ञ दिखाने ले जायँगे। वे ही रामचंद्रजी, जिनका वर्णन हम लोग रामायण में पढ़-पढ़कर तुम्हें सुनाते हैं, और जिसे सुनकर तुम रोने लगती हो। माँ ! उनका वर्णन तो बड़ा सुंदर है, उसे सुनकर तुम रोने क्यों लगती हो ? हमने तो कभी नहीं सुना कि ऐसा सद्गुणी

और आदर्श राजा कभी किसी देश में हुआ हो। अभी की एक बात सुनो। ऋषिजी ने निमंत्रण लानेवाले दूत से पूछा, कि 'अश्वमेध-यज्ञ तो स्त्री के साथ किया जाता है, परंतु रामचंद्र ने तो अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने के लिये पत्नी का त्याग कर दिया है, क्या अब यज्ञ संपन्न करने लिये उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया है ?' तो दूत ने उत्तर दिया—'नहीं महाराज ! वे विवाह क्यों करेंगे, वे तो एक-पत्नी-व्रत-धारी हैं। लोगों ने उनसे दूसरा विवाह करने के लिये कहा भी था, पर वे माने नहीं, बोले—अपनी साध्वी पत्नी की स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर बग़ल में रख लूंगा, उसी से काम चल जायगा।' मा ! हम लोग वहाँ जाकर उस नर-देवता के दर्शन करेंगे, उनकी साध्वी पत्नी की स्वर्ण-प्रतिमा का दर्शन करेंगे, यज्ञ की धूम-धाम देखेंगे, बड़ा मज़ा रहेगा।"

सीताजी के हृदय में जो आग जल उठी थी, बालकों के वचनामृत से वह एकबारगी शीतल हो गई। गर्व से उनका मुखड़ा दमक उठा, नेत्र चमकने लगे। उन्होंने बालकों के मुख चूम लिए, उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे। उन्होंने बालकों को यज्ञ में जाने की आज्ञा दे दी।

वाल्मीकि लव-कुश-सहित यज्ञ-भूमि में उपस्थित हुए। उन्होंने दोनो कुमारों को आज्ञा दी "कि तुम लोग घूम-घूमकर वीणा के सुर में सुर मिलाकर रामायण गाना। यदि राजा लोग तुम्हें निकट बुलावें, तो विनय-पूर्वक उनके निकट जाना,

पर पुरस्कार का लोभ न करना। यदि वे कुछ पुरस्कार दें भी, तो कह देना कि हम लोग ऋषि-कुमार हैं, धन से हमें कोई प्रयोजन नहीं। और यदि वे तुम्हारा परिचय चाहें, तो इतना ही कह देना कि हम वाल्मीकि के शिष्य हैं।"

लव-कुश तुरंत गुरु की आज्ञा पालन करने में तत्पर हुए। वे राजाओं के डेरों के सामने जाकर बड़े ही मधुर स्वर में रामायण की चित्त-चुरानेवाली कवितावली गाने लगे। उनका वह स्वर्गीय गान सुन सभी मुग्ध हो जाते थे। ऋषि-कुमारों में वह राज-तेज देख उनके विस्मय की सीमा न रहती थी।

धीरे-धीरे रामचंद्र के कानों तक लव-कुश के मनोहर गान की चर्चा पहुँची। उन्होंने एक ब्राह्मण के हाथ उन्हें बुला भेजा। तत्काल दोनो कुमार रामचंद्रजी की राज-सभा में उपस्थित हुए। उन्हें देखते ही रामचंद्र का हृदय उमड़ने लगा; उनकी प्रबल इच्छा हुई कि उन्हें छाती से लगा लें। लव-कुश ने सितारों के तारों पर उँगली रक्खी, उनके कोमल कंठ के नाद से सभा-भवन गूँज उठा। लव-कुश सीता-राम का स्नेह-विषयक अंश गाने लगे। संपूर्ण सभा स्तब्ध रह गई, राम के नेत्रों से अश्रुओं की नदी उमड़ चली। राज-माता कौशल्या देवी भी पर्दे की ओट में बैठी थीं। परंतु उनका ध्यान लव-कुश के मनोहर संगीत की ओर नहीं था, वे उनका एक-एक अंग तन्मय होकर देख रही थीं। रह-रहकर उनका वात्सल्य भाव उमड़ उठता था। वे एकाएक लक्ष्मणजी को पुकार उठीं—"लक्ष्मण! बेटा!

उनका वह स्वर्गीय गान सुन सभी मुग्ध हो जाते थे। (पृष्ठ २४७)

तुम इन बालकों को नहीं देख रहे हो? ये तो मेरी सीता के बच्चे जान पड़ते हैं। देखते नहीं, इनमें राम और सीता की परछाईं कैसी झलक रही है। ज़रा इन्हें मेरे पास तो ले आओ।"

तुरंत राज-माता के आदेश का पालन हुआ। लक्ष्मण लव-कुश को कौशल्या के पास लिवा ले गए। उन्हें देखते ही कौशल्या की आँखें डबडबा आईं। उन्होंने बालकों का परिचय पूछा। बालक नम्रता-पूर्वक बोले—"हमने अपने पिता को न देखा, न उनका नाम सुना। हाँ, हमारी माता जरूर हैं, पर वे न-जाने क्यों सदा बड़ी दुःखी रहती हैं। हम उनका भी नाम नहीं जानते। हम तो इतना ही जानते हैं कि हम वाल्मीकि ऋषि के शिष्य हैं।" यह सुन सभी स्त्रियाँ बोल उठीं—"ये अवश्य सीतादेवी के पुत्र हैं।" कौशल्या, उर्मिला आदि सब स्त्रियाँ रोने लगीं। राम, लक्ष्मण आदि भी एक ओर खड़े-खड़े रो रहे थे। इसी समय वाल्मीकिजी भी वहाँ आ पहुँचे, उन्होंने कहा—"ये भगवती सीता के ही पुत्र हैं।"

कौशल्या ने पगली की नाईं झपटकर दोनों कुमारों को छाती से लगा लिया। वे हा "मेरी सीता! हा मेरी राज्य-लक्ष्मी! तू कहाँ चली गई?" कहकर विलाप करने लगीं। पुत्रों को देखकर राम इतना रोए कि उनकी घिग्घी बँध गई। तब वाल्मीकिजी ने उनसे कहा—"राजन्! आप सीताजी का महत्त्व नहीं समझे। झूठी लोक-निंदा के भय से आपने उनका त्यागकर महान् अनर्थ किया है। मेरी राय है कि अब आप उनको पुनः ग्रहणकर इस भीषण दुःखाग्नि को शांत कीजिए।" रामचंद्र ने उन्हें नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—"देव! आप तो सब जानते हैं। सीता को त्यागकर मैं सुखी नहीं हूँ। केवल

प्रजा के असंतोष के कारण ही मैंने अवध की उस सौभाग्य-लक्ष्मी को वन-वन भटकने के लिये छोड़ दिया था। यदि प्रजा को कोई आपत्ति न हो, तो मैं पुनः सीता को ग्रहण करने के लिये उद्यत हूँ।"

वाल्मीकिजी ने सोचा कि अब प्रजा का हृदय शांत हो गया होगा। यदि अब राम सीता को ग्रहण करेंगे, तो वह प्रसन्न ही होगी। उन्होंने सीताजी को बुलाने का प्रबंध किया। सीताजी का तापस-वेश-धारी जर्जर शरीर राम की राज-सभा में प्रविष्ट हुआ। उनका वह वेश, उनकी वह क्षीण काया देख रामचंद्र-जी के नेत्रों से चौधार आँसू बहने लगे। वाल्मीकिजी उनसे बोले—"राजन्! ये ही आपकी परम साध्वी पतिव्रता पत्नी सीता देवी हैं। और ये दोनो कुमार लव और कुश आपके पुत्र हैं। आपने जिस लौकिक निंदा के भय से इस सती-शिरोमणि का त्याग किया था, वह निर्मूल है। मैं आप-को विश्वास दिलाता हूँ कि इनका चरित्र अग्नि की नाईं विशुद्ध है। आप इन्हें ग्रहण कीजिए।"

रामचंद्रजी बोले—"प्रभो! आप सत्य कहते हैं, मैं जानता हूँ कि सीता देवी बिलकुल निरपराधिनी हैं! इन्हें पाप की छाया भी स्पर्श नहीं कर सकी है, और मैं स्वयं इन्हें ग्रहण करने के लिये आकुल हो रहा हूँ।" फिर उन्होंने दरबारी जनों की ओर संबोधन कर कहा—"यदि आप लोगों को कोई आपत्ति न हो, तो मैं इन्हें ग्रहण कर लूँ।" यद्यपि सभी ने

"ये दोनो कुमार लव और कुश आपके पुत्र हैं।" (पृष्ठ २५०)

वाल्मीकिजी के प्रस्ताव का समर्थन किया, फिर भी दो-एक कठोर-हृदय मानव-मूर्तियाँ सिर नीचा किए बैठी रहीं। यह देख रामचंद्रजी अत्यंत विचलित हो उठे। उन्होंने कातर

होकर सीताजी से कहा—"देवि ! तुम्हें इन सभाजनों के समक्ष अपने सतीत्व-बल की शक्ति का परिचय देना ही होगा।"

यह सुनते ही जैसे सीताजी पर वज्र-पात हो गया। उनका टूटा हुआ हृदय अस्थिर हो उठा। वे अधोमुखी हो बोलीं—"मा वसुंधरे ! अब यह कष्ट नहीं सहा जाता। मैं समझ गई कि मेरे शरीर का एक परमाणु भी सुख प्राप्त करने के लिये नहीं जनमा है ! इतनी तपश्चर्या के पश्चात् भी मेरा कर्म-फल शांत नहीं हुआ। हे मातृभूमि ! तुझसे ही मेरी उत्पत्ति हुई है, अब मैं तेरी ही गोद में विश्राम करने के लिये उत्सुक हूँ। यदि मैंने मन, वचन और कर्म से अपने ही पति का ध्यान किया है, तो तू मेरी शुद्धता की साक्षी दे। तू फट जा, और मैं समा जाऊँ। अब और जीने की साध नहीं है।"

यह सुनते ही सभा-भूमि तड़ाक से दो खंड होकर फट गई। लोकमाता धरणी देवी एक दिव्य सिंहासन लिए हुए बाहर निकलीं, और उसने सीता के कोमल शरीर को अपनी अभय गोद में उठा लिया। यह देखते ही श्रीराम घबराकर उनका उद्धार करने को झपटे, पर जब तक वे पास पहुँचें-पहुँचें—तब तक लोकमाता उन्हें लेकर अदृश्य हो गईं।

सभा-भवन एकबारगी 'सीताजी की जय' के घोर नाद से गूँज उठा। वह अलौकिक दृश्य देख सभी आश्चर्य-चकित रह गए। लव-कुश अपनी प्यारी माता का वह लीलावसान देख बिलख-बिलखकर रोने लगे। राज-भवन की स्त्रियाँ सिर धुनने

लगीं। और रामचंद्रजी की कातरता का तो कहना ही क्या ? उनके प्राणों की प्राण सीताजी चली गईं, जिन पर उनका समस्त स्नेह केंद्रीभूत रहता था, वे सीताजी लोकमाता की अक्षुण्ण गोद में विश्राम करने चली गईं। वे सिर धुनते थे—छाती पीटते थे और कहते थे—"हा ! मैं नहीं जानता था कि राज करना तलवार की धार पर चलना है ! यदि मैंने पहले ही यह बात सोच ली होती, तो आज यह दुःखदायी दिन क्यों देखना पड़ता ! प्रजा की प्रसन्नता के लिये मैं एक महिला के साथ अन्याय और अत्याचार कर बैठा ! किस प्रायश्चित्त से इस घोर पाप का शमन होगा ! उफ़ ! यह वेदना कैसे शांत होगी ? हृदय में जो घोर हाहाकार हो रहा है, वह कैसे शांत होगा ? देवि ! तुम मुझे एकाएक शोक-सागर में फेंककर चली गईं ! आह ! थोड़ी देर पहले मैंने सोचा होता ! यह राज-पाट त्याग देता, इस वैभव को ठुकरा देता। तुम्हें लेकर वन के एक कोने में जा बसता ! तुम्हारे प्रताप से वही वन-खंड सौ-सौ राज्यों के ऐश्वर्य-सदृश जगमगा उठता।"

सीताजी चली गईं। उन्हें गए अनंत युग बीत गए, पर भारत के सौभाग्य-पटल पर उनका नाम अब भी सूर्य के समान चमक रहा है। संसार में कितने ही उथल-पुथल हो गए, कितनी ही क्रांतियाँ हो गईं, पर सीताजी का स्थान अब भी ज्यों-का-त्यों है। संसार न-जाने कहाँ से चलकर कहाँ पहुँचेगा, न-जाने कितनी आँधियाँ उठेंगी, कितने तूफ़ान आयँगे, कितने

भूकंप हो जायँगे, पर सीताजी का सिंहासन कभी, सृष्टि के अंत तक, टस से मस न होगा, उन्होंने जो पति-प्रेम प्रदर्शित किया था, पति की जो सेवा की थी, उस प्रेम को स्थिर रखने के लिये, उस सेवा-भाव को पवित्र बनाए रखने के लिये जो तपश्चर्या की थी, उसके कारण उनका नाम अमर हो गया। उनका आदर्श अटल हो गया, और वह सदा महिला-मंडल के सामने पातिव्रत की एक पवित्र प्रतिमा उपस्थित करता रहेगा।

स्त्रियोपयोगी कुछ चुनी हुई पुस्तकें

कमला-कुसुम

प्रस्तुत पुस्तक स्त्रियों के लिये एक अमूल्य उपहार है। इसमें एक कहानी द्वारा लड़कियों और युवती स्त्रियों को बड़े ही लाभ-दायक उपदेश दिए गए हैं। लेखन-शैली बड़ी ही मनोमोहक और छपाई-सफ़ाई नेत्ररंजक है। एक बार देखते ही छोड़ने को जी न चाहेगा। चार चारु चित्र। मूल्य १)

ज़च्चा

लेखक, कविराज श्रीप्रतापसिंह वैद्य। संतानोत्पत्ति चाहने-वाली स्त्रियों के उपयोग की प्रायः सभी बातें इसमें दी गई हैं। छोटी-छोटी बालिकाओं को सँभालने का भी उपदेश दिया गया है। प्रसूतिका स्त्रियों के जानने-योग्य बातें, गर्भ-रक्षा के उपाय, संतानोत्पत्ति के बाद के कर्तव्य, बड़ी सरल भाषा में, समझाए गए हैं। प्रत्येक गृहिणी को इसे पढ़कर अपनी तथा अपनी कन्याओं की जो भावी माताएँ हैं, इस विषय की अज्ञानता से उत्पन्न होनेवाली उपाधियों से रक्षा करनी चाहिए। मूल्य ॥=)

देवी द्रौपदी

लेखक, कविवर पं० रामचरित उपाध्याय। यह पुस्तक देवी द्रौपदी का जीवन-चरित है। आख्यायिका के ढंग पर लिखा गया है, जिससे इसके पाठ से उपन्यास, प्राचीन इतिहास और जीवन-चरित तीनो के पढ़ने का आनंद आता है। यों तो

यह पुस्तक समान रूप से सबके लिये शिक्षा-प्रद है, पर स्त्रियों के लिये यह पुस्तक अमूल्य रत्न हैं। नवीन संस्करण में कई रंगीन चित्र भी दिए गए हैं। मूल्य ॥)

नारी-उपदेश

लेखक, श्रीयुक्त गिरिजाकुमार घोष। इस सचित्र पुस्तक में प्रमाणिक ग्रंथों और शास्त्र-पुराणों में से स्त्रियों के योग्य शिक्षाएँ संगृहीत की गई हैं। स्त्रियों के लिए जितनी बातें आवश्यक हैं, सब इसमें आ गई हैं। भाषा अत्यंत सरल और मधुर है। पढ़ने में रोचक है। इसका पहला संस्करण हाथोंहाथ बिक गया। द्वितीयावृत्ति। मूल्य ॥)

महिला-मोद

लेखक, महामना पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी। इस पुस्तक में द्विवेदीजी के उन सारगर्भित लेखों का संग्रह है, जो समय-समय पर आपने स्त्री-जाति के हितार्थ लिखे हैं। लेख सभी पढ़ने योग्य, उपयोगी और मार्के के हैं। स्त्रियों को तो यह पुस्तक अवश्य ही पढ़नी चाहिये। कवर पर एक मनोहर रंगीन चित्र भी। है मूल्य ॥)

लक्ष्मी

लेखक, श्रीगिरिजाकुमार घोष। इस पुस्तक में लक्ष्मी के वृत्तांत द्वारा स्त्रियों को बहुत ही उपयोगी और आवश्यक शिक्षाएँ दी गई हैं। कहानी इतनी रोचक और मनोरंजक है कि पढ़ने से जी प्रसन्न हो जाता है। प्रत्येक स्त्री को अवश्य पढ़ना चाहिए। कई रंगीन चित्रों से सुसज्जित पुस्तक का मूल्य केवल ॥=)

संचालक—गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय,

लखनऊ